ओ३म्

वैदिक नित्यकर्म एवं पञ्चमहायज्ञ विधि

(स्वर्ग के साधन पांच महायज्ञों एवं नित्यकर्मों के अनुष्ठान की मन्त्रपदार्थ सहित पूर्ण विधि। शास्त्रीय प्रमाणों, निरुक्तनिर्वचनों और व्याकरण-प्रक्रिया से अलंकृत शोधात्मक पुस्तक)

लेखक–
आचार्य सत्यानन्द "नैष्ठिक"

प्रकाशक–
...पुरा, पो० गोरधनपुरा,
...ली, जिला–जयपुर (राज०)

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

वर्ग संख्या.........   आगत संख्या 110263

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

आधुनिक युग में मानवमात्र को वेदाध्ययन एवं यज्ञानुष्ठान का अधिकार देने वाले, यज्ञीय विधियों के प्रतिष्ठापक, आर्यसमाज के प्रवर्तक, युग निर्माता—



महर्षि दयानन्द जी सरस्वती

१५.३
८८:१६

[redacted]

ओ३म्

वैदिक नित्यकर्म

एवं

पञ्चमहायज्ञविधि

(स्वर्ग के साधन पांच महायज्ञों एवं नित्यकर्मों के अनुष्ठान की मन्त्रपदार्थ सहित पूर्ण विधि। शास्त्रीय प्रमाणों, निरुक्तनिर्वचनों और व्याकरण-प्रक्रिया से अलंकृत शाधात्मक पुस्तक)

लेखक—

आचार्य सत्यानन्द "नैष्ठिक"

एम. ए. (वेद-संस्कृत)

प्रकाशक—

गुरुकुल कंवरपुरा, पो० गोरधनपुरा,
तह० कोट पूतली, जिला—जयपुर (राज०)

प्राप्तिस्थान–
१. आचार्य गुरुकुल कंवरपुरा
पो०–गोरधनपुरा, तह० कोटपुतली
जिला–जयपुर (राज०)

मई १९९२ ईस्वी
दयानन्दाब्द १६९
विक्रमाब्द २०४९
सृष्टिसंवत् १, ९६, ०८, ५३, ०९३

मूल्य– ६०/- (साठ रूपये)

पुस्तकालय संस्करण : ८०/- रुपये

प्रथम संस्करण २१००

मुद्रक :
आर्य ऑफसेट प्रेस, दिल्ली - ३५

प्रस्तावना

स्वर्ग का सोपान है–'वेदोक्त आध्यात्मिक मार्ग' और आध्यात्मिक मार्ग की सिद्धि के सोपान हैं– वैदिक नित्यकर्म एवं पञ्चमहायज्ञ। मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है– 'मोक्षप्राप्ति' और उसके साधक हैं–'वैदिक नित्यकर्म एवं पञ्चमहायज्ञ।' सभी शास्त्रों और ऋषियों ने इस तथ्य को एक मत से स्वीकार किया है और जीवन के अनुभवों में परख कर यह निष्कर्ष निकालकर व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के कल्याणार्थ प्रस्तुत किया है। एक दो ही नहीं, इस निष्कर्ष की घोषणा करने वाले सैकड़ों ऋषिवचन हमारे शास्त्रों में उपलब्ध हैं। महर्षि मनु लिखते हैं–

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्।। [मनु० ४.१४]

अर्थात्–'जो मनुष्य प्रतिदिन आलस्यरहित होकर यथाशक्ति वेदोक्त कर्मों को करता है, वह परम गति= मोक्ष को प्राप्त करता है।'

मैत्रायणि–उपनिषद् में उद्घोषित किया गया है–

"**अग्निहोत्रं जहुयात् स्वर्गकामः**" [मै०उ० ६.३६]

–स्वर्ग का इच्छुक व्यक्ति यज्ञों का अनुष्ठान करें।

"**नौर्ह वा एषा स्वर्ग्या, यदग्निहोत्रम्**" [शत० २.३.३.१५]

–'अग्निहोत्र स्वर्ग में पहुंचाने वाली एक नौका है।'

आज मनुष्य मानसिक–आत्मिक सुख से वंचित दृष्टिगोचर हो रहा है। इसका प्रमुख कारण है भौतिकवाद के प्रति मोह और आध्यात्मिकवाद के प्रति विमुखता। यही कारण है कि आज हम भौतिक साधनों से सम्पन्न होते हुए भी अशान्ति, दु:ख, क्लेश, अविश्वास, चिन्ता-संताप, तनाव के वातावरण में जी रहे हैं। सच्चा सुख हमें मिल नहीं पा रहा है। भौतिकवाद की मृगतृष्णा में हम सच्चा सुख खोजना चाहते हैं, जो एक भुलावा मात्र है। भौतिकवाद का सुख तो मात्र रास्ते का सुख है, लक्ष्य का नहीं; मात्र शरीर का सुख है, आत्मा का नहीं।

ऋषियों के सुझाये आध्यात्मिक मार्ग पर चलने में दोनों प्रकार के सुख हैं—शारीरिक और आत्मिक, इहलौकिक और पारलौकिक, मार्ग के और लक्ष्य के। वेदोक्त कर्मों एवं धर्मों का मार्ग ही मनुष्य को सच्चा मनुष्य बना सकता है और सच्चा सुख प्राप्त करा सकता है, अन्य कोई मार्ग नहीं।

जब तक किसी व्यक्ति का वातावरण आध्यात्मिक अर्थात् यज्ञीय नहीं होता तो उसमें सद्‌गुणों का विकास नहीं हो सकता। समाज में यदि वह वातावरण नहीं होता, तो समाज में अच्छे मूल्यों की स्थापना नहीं हो सकती। राष्ट्र भी उन्नति-समृद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। वैदिक नित्यकर्मों एवं पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान ही व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र को उत्तम बनाकर उन्नति समृद्धि की ओर ले जाते हुए उसमें सुख-शान्ति का संचार कर सकता है। भौतिकवादी वातावरण मत्स्यजगत् के सदृश है। जैसे, अपने स्वार्थ के लिए बड़ी और शक्तिशाली मछलियां छोटी को कभी कष्ट पहुँचाती है तो कभी खा जाती हैं। यही स्थिति आज के भौतिकवादी समाज की है। आध्यात्मिक वातावरण मानवीय वातावरण है, जहां परस्पर सौहार्द, मेल-मिलाप, दया-करुणा, सहयोग, सुख-शान्ति, परदुःख कातरता का व्यवहार मिलता है। जीओ और जीने दो का संदेश है। नैतिकता एवं राष्ट्रीयता भी आध्यात्मिकता पर टिकी रह सकती हैं। जहां आध्यात्मिक मूल्य नहीं होंगे वहां समाज एवं राष्ट्र इन भावनाओं से वंचित होते जायेंगे।

ये सब बातें मैंने केवल पढ़ी ही नहीं हैं अपितु अपने जीवन, समाज और राष्ट्र में प्रत्यक्ष अनुभव की हैं। मैंने जब से नैत्यिक यज्ञानुष्ठान की प्रतिज्ञा कर उसका पालन किया है, तब से मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि नित्यकर्मों के पालन से तथा पञ्चयज्ञों के अनुष्ठान से व्यक्ति का शारीरिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास होता है और मनुष्य में मानवता का उदय होता जाता है। यही विकास मनुष्य को अन्ततः देवत्व प्राप्ति की ओर ले जाता है, ऐसा ऋषियों का अनुभवपूर्ण कथन है।

यदि हमें सच्चा मनुष्य बनना है, यदि हमें देवत्व प्राप्त करना है, यदि हमें सुख-शान्ति, नैतिकता, सौहार्द्र, सहयोग, भ्रातृभावपूर्ण समाज का निर्माण करना है, यदि हमें राष्ट्र की रक्षा-समृद्धि-वृद्धि करनी है तो हमें वेदोक्त आध्यात्मिक मार्ग को, वैदिक नित्यकर्मों एवं पञ्चमहायज्ञों के आचरण को अपनाना ही पड़ेगा इसके बिना कल्याण सम्भव नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन् इसी भावना से किया जा रहा है कि आज के मनुष्य आध्यात्मिकता के महत्त्व को समझें, उसकी ओर प्रवृत्त हों, वैदिक

नित्यकर्मों तथा पञ्चमहायज्ञों का प्रचार-प्रसार हो और सभी इनका अनुष्ठान करें और अनुष्ठान के इच्छुक व्यक्तियों को उनकी विधि सरल-सुबोध रूप में उपलब्ध हो सके।

प्रस्तुत पुस्तक की उपादेयता

पाठकों के मन में प्रश्न उठ सकता है कि यज्ञीय-विधि सम्बन्धी अनेक पुस्तकें बाजार में उपलब्ध हैं, फिर इस पुस्तक की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में मेरा विनम्र निवेदन यह है कि मैंने अपने जीवन में यज्ञानुष्ठान करते समय, यज्ञीय-विधियों की पुस्तकों पर मनन करते समय, कुछ ऐसी बातों का अभाव अनुभव किया, कुछ ऐसी शंकाओं के समाधान का अभाव पाया, जो एक यज्ञकर्त्ता के मन में उठती रहती हैं। इस पुस्तक का प्रकाशन करके मैंने उन अभावों को दूर करने का प्रयास किया है। संक्षेप में इस पुस्तक की विशेषताओं को इस प्रकार रखा जा सकता है—

१. यह पुस्तक महर्षि दयानन्द कृत संस्कार विधि तथा पञ्चमहायज्ञविधि पर आधारित है, इसमें महर्षि की विधियों एवं मान्यताओं की पुष्टि की गयी है।

२. इसमें सभी यज्ञीय विधियों एवं क्रियाओं को सरल एवं सुबोध शैली में स्पष्ट किया गया है। उठने से लेकर शयन तक की पूर्ण नित्यचर्या मन्त्रार्थ सहित दी गयी है।

३. उपासकों याज्ञिकों के लिए यह आवश्यक है कि वे मन्त्रोच्चारण के साथ-साथ मन्त्रों का अर्थ चिन्तन भी करें तभी सन्ध्या-उपासना तथा अग्निहोत्रादि के अनुष्ठान का पूर्ण फल प्राप्त हो सकता है। किन्तु बाजार में ऐसी कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है, जिसमें मन्त्रों का पदार्थ दिया गया हो। यह पुस्तक उस अभाव की पूर्ति करेगी और याज्ञिक जन इसकी सहायता से अर्थ चिन्तनपूर्वक मन्त्रोच्चारण कर सकेंगे। इसमें एक-एक मन्त्रपद का पृथक्-पृथक् स्पष्ट अर्थ दिया गया है।

४. शास्त्रों में भी यह आदेश है और व्यवहार में भी यह कहा जाता है कि उपासकों को अर्थपूर्वक मन्त्रों का चिन्तन अथवा उच्चारण करना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब मन्त्रपदों के अनुसार अर्थ ज्ञात हो। प्रायः व्याख्याकारों ने शब्दों और पंक्तियों को आगे-पीछे करके अर्थ किये हैं। ऐसे अर्थों का मन्त्र के पदों के क्रम से चिन्तन नहीं हो सकता। इस पुस्तक में, मन्त्र के पदों के क्रम से ही अर्थ करने का प्रयास किया गया है, जिससे उपासक मन्त्रोच्चारण क्रम से अर्थचिन्तन कर सकें।

५. प्रायः व्याख्याकारों ने यज्ञीय मन्त्रों की व्याख्या पृथक्-पृथक् की है। पाठक यह समझ नहीं पाता कि अर्थ का यह अन्तर किस कारण से है और इन अर्थों का क्या आधार है। इस पुस्तक में जो भी अर्थ किये गये हैं, उसकी पुष्टि में व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण ग्रन्थों, वेदों तथा महर्षि दयानन्द के प्रमाण दिये गये हैं। इस प्रकार पाठकों को प्रामाणिक अर्थ एवं व्याख्या देने का एक विनम्र प्रयास है। इस प्रकार यह अल्पशिक्षितों तथा उच्चशिक्षितों, दोनों वर्गों के लिए उपयोगी है।

६. मन्त्रों में आये विशिष्ट पदों, विचारणीय स्थलों पर टिप्पणी में प्रमाणपूर्वक, स्पष्ट समीक्षा दी गयी है। आवश्यक स्थलों पर विशेष कथन देकर प्रतिपाद्य को स्पष्ट किया गया है।

७. यज्ञ सम्बन्धी बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनका स्पष्टीकरण यज्ञीय विधि-पुस्तकों में नहीं मिलता, जैसे—महर्षि दयानन्द द्वारा विहित न्यून से न्यून एक घण्टा तक सन्ध्या कैसे की जा सकती है? दीर्घयज्ञ की विधि क्या है? न्यून से न्यून सोलह आहुतियां कौन सी हैं? एक काल के यज्ञ की विधि क्या है? आदि शंकाओं का टिप्पणी में स्पष्टीकरण दिया गया है।

८. अन्त में यज्ञादि धार्मिक अवसरों पर गाये जाने वाले भक्ति गीतों, प्रार्थनाओं का पर्याप्त संग्रह है।

९. पुस्तक में स्थूलाक्षर टाइप का प्रयोग किया गया है, जिससे आबालवृद्ध सभी बिना कठिनाई के पढ़ सकें।

आशा है यह पुस्तक पाठकों को पसन्द आयेगी और पाठक मेरा उत्साहवर्धन करेंगे।

आचार्य सत्यानन्द "नैष्ठिक"
मई, १९९२

संकेत-सूची

अ०/अष्टा०	अष्टाध्यायी
अथ०/अथर्व०	अथर्ववेद
आप०गृ०सू०	आपस्तम्बगृह्यसूत्र
आर०र०	आर्योद्देश्यरत्नमाला
आर्या०/आर्याभि०	आर्याभिविनय
आश्व०गृ०	आश्वलायन गृह्यसूत्र
उ०/उणा०	उणादिकोष
ऋ०/ऋक्/ऋग्	ऋग्वेद
ऋ०दया०भा०	ऋषि दयानन्द भाष्य
ऋ०भा०भू०	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
ऐ०/ऐ०ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
काठ०	काठक संहिता
कौ०	कौषीतकि ब्राह्मण
गो०उ०	गोपथब्राह्मण उत्तर भाग
गो०गृ०सू०	गोभिल गृह्यसूत्र
गो०पू०	गोपथब्राह्मण पूर्वभाग
जै०उ०	जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण
टि०	टिप्पणी
तां०/तां०ब्रा०	तांडच ब्राह्मण
तृ०सम्०	तृतीय समुल्लास
तै०आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै०उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै०/तै०ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै०सं०	तैत्तिरीय संहिता
द्र०	द्रष्टव्य
नि०/निरु०	निरुक्त
निघ०	निघण्टु
नीति०	नीतिशतकम्

पं०म०वि०	पञ्चमहायज्ञ विधि
पा०गृ०सू०/पार० गृ	पारस्कर गृह्यसूत्र
प्र०	प्रकरण
म०दया०भा०	महर्षि दयानन्द भाष्य
मनु०	मनुस्मृति
मैं०/मैं०सं०	मैत्रायणी संहिता
यजु०	यजुर्वेद
वायु पु०	वायु पुराण
वा०रा०बाल०	वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड
वा०रा०अयो०	वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड
शत०	शतपथ ब्राह्मण
शा०आ०	शांखायन आरण्यक
षड्०	षड्विंशब्राह्मण
सं०वि०	संस्कार विधि
स० प्र०	सत्यार्थ प्रकाश
सन्ध्यो० प्रक०	सन्ध्योपासन प्रकरण
समु०	समुल्लास
साम०	सामवेद
सि०कौ०	सिद्धान्त कौमुदी
स्व०	स्वस्तिवाचन

विषय-सूची

औ

टिप्पणी में विवेचित विषयों एवं शब्दों की अकारादि अनुक्रम से सूची

विषय/शब्द — टिप्पणी संख्या

अं

अ:

वैदिक नित्यकर्म

[मानवमात्र के लिए अनुष्ठेय आवश्यक दिनचर्या]

"वैदिकैश्चैव कर्मभिः.........साधयन्तीह तत्पदम्" (मनु० ६.७५)
—वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करके मनुष्य मोक्षपद को प्राप्त करते हैं।

नित्यकर्मों का आदेश एवं महत्त्व—मानव का परमलक्ष्य है—'मोक्षप्राप्ति'। वैदिक नित्यकर्म मोक्षप्राप्ति के सोपान हैं। वेदोक्त कर्मों के विधान का उद्देश्य है—मनुष्य का ऐहिक और पारमार्थिक कल्याण करना, मनुष्य को वास्तव में मनुष्य बनाकर उसे मुक्ति प्राप्त कराना।

संसार में प्रत्येक मनुष्य सुख-शान्ति, आरोग्य, समृद्धता और मुक्ति की कामना करता है। इनकी प्राप्ति के लिए मनुष्य को चाहिये कि वह श्रुति-स्मृति-विहित नित्यकर्मों का निष्ठापूर्वक पालन करे। विशेषतः उपासक के लिए तो नित्यकर्मों का समयानुसार पालन करना आवश्यक है, क्योंकि ये नित्यकर्म उपासना के सहायक और पूरक कर्म हैं। इनके बिना उपासना की उपयुक्त मनोभूमि और बाह्य वातावरण नहीं बन पाते। जो मनुष्य इनका भलीभांति अनुष्ठान करते हैं, वे सुख-शान्ति, आरोग्य, समृद्धता के साथ पूर्ण आयु प्राप्त करते हैं और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। उनकी धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि हो जाती है। अतः एव वेद ने आदेश दिया है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। [यजु० ४०.२]

अर्थात्—हे मनुष्य! इस जगत् में वेदोक्त कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष या सौ से अधिक वर्ष तक जीने की इच्छा कर। इस प्रकार वेदोक्त

उत्तम कर्मों को करने से तुझ मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होता अर्थात् मनुष्य कर्मबन्धन में नहीं बंधता। इसके अतिरिक्त भवबन्धन से छूटने या मुक्ति प्राप्त करने का दूसरा कोई मार्ग या उपाय नहीं है।'

मनुस्मृति में मनु महाराज ने आदेश दिया है–

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ।। [मनु० ४.१४]

अर्थात्–'मनुष्य वेदोक्त कर्मों को, जो कि मनुष्यों के लिए विहित हैं, प्रतिदिन आलस्यरहित होकर करे। अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रतिदिन उन्हें करने वाला मनुष्य परम गति= मोक्ष को प्राप्त करता है।'

वेदोक्त कर्मों के महत्त्व को बतलाते हुए मनु एक अन्य स्थान पर लिखते हैं–

"**श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम्**" [१२.८६]

–'वेदोक्त कर्मों को इस लोक और परलोक में सदा कल्याणकारी समझना चाहिये।' अभिप्राय यह है कि वेदोक्त कर्म अथवा नित्यकर्म सदा कल्याण ही करते हैं, उनमें अकल्याण की कोई संभावना नहीं है। मनु वैदिक कर्मों को ऐहिक और पारलौकिक दृष्टि से पवित्रताकारक घोषित करते हुए उनके अनुष्ठान का आदेश देते हैं–

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ।। [२.२६]

अर्थात्–'पुण्यदायक वैदिक कर्मों से, द्विजातियों को सोलह संस्कारों द्वारा जीवन को संस्कृत-शुद्ध करना चाहिये, ऐसा करना इस जीवन और परलोक में पवित्रताकारक है।'

वेदविहित आचरण धर्माचरण के पर्याय हैं और वैदिक नित्यकर्म धर्माचरण के पूरक। यही कारण है कि सभी वेदोक्त कर्म धर्माचरण की सिद्धि कराते हैं या उस मार्ग का पथिक बनाते हैं। धर्म एक ऐसा शब्द है, जिसमें संसार की सभी उत्तम बातें समा जाती हैं। धर्म का मार्ग एक ऐसा मार्ग है, जिसमें संसार के सभी अच्छे मार्ग समा जाते हैं। इसी के पालन

से मनुष्य, मनुष्य बनता है, अन्य बातें तो सभी प्राणियों में समान रूप से मिलती हैं। तभी तो कवि भर्तृहरि ने लम्बे अनुभव के बाद यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है–

आहारनिद्राभयमैथुनं च,
समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः,
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।। [चाणक्य नीति १७.१६]

अर्थात्–'भोजन करना = पेट भरना, सोना; भयभीत होना और मैथुन करना ये बातें मनुष्यों और पशुओं में समान हैं। धर्माचरण ही मनुष्यों में विशेष है, जो उनको अन्य प्राणियों से विशेष सिद्ध करता है। जो मनुष्य धर्माचरण से हीन हैं, वे पशुओं के समान ही हैं।'

अतः वेद कहता है–

"**मनुर्भव**" [ऋ० १०.५२.६] = मनुष्य बन।

और मनुष्य बनने का सही उपाय है धर्माचरण अर्थात् वेदोक्त कर्मों का पालन। धर्म के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए श्रुति-स्मृतियों ने मनुष्य की दिनचर्या का भी निर्धारण किया है, जो निम्न प्रकार है–

(अ) प्रातःकालीन दिनचर्या

१. प्रातःजागरण–प्रत्येक मनुष्य को प्रातः चार बजे अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त[1] में शयन से उठना चाहिये। महर्षि मनु का इस सम्बन्ध में आदेश है कि,

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च।। [मनु० ४.९२]

---

१. **ब्राह्ममुहूर्त**–ब्राह्ममुहूर्त नाम से ही स्पष्ट है कि यह समय ईश्वर की उपासना का है। ब्राह्म = ब्रह्म सम्बन्धी, मुहूर्त = समयांश अर्थात् जो समयांश परमात्मा-सम्बन्धी है। यह समयांश रात्रि के पश्चिम याम = अन्तिम पहर में आता है–"**रात्रेश्च पश्चिमे यामे मुहूर्तो ब्राह्म उच्यते।**" ४८ मिनट की समयावधि का एक मुहूर्त होता है, किन्तु यहाँ प्रातःकालीन उठने के समय से अभिप्राय है, जो प्रातः चार बजे के लगभग होता है.

अर्थ–'मनुष्य ब्राह्ममुहूर्त अर्थात् प्रातः चार बजे उठे और धर्म= सत्याचरण और अर्थ= धर्मानुकूल अर्थप्राप्ति के विषय में चिन्तन करे, तथा शारीरिक व्याधि आदि कष्टों, उनके कारणों पर चिन्तन करे और उनका निवारण-उपाय, व्यायाम-योगाभ्यास आदि करे, और वेदतत्त्वों= वेदोक्त उपदेशों का अर्थपूर्वक चिन्तन करे।' अन्यत्र राजा के प्रसंग में भी लिखा है–

"**उत्थाय पश्चिमे यामे**" [मनु० ७.२४५]

अर्थात्–'रात्रि के पश्चिम पहर= आखिरी पहर चार बजे उठे।' और व्यावहारिक तथा पारमार्थिक कर्त्तव्य-कर्म की सिद्धि के लिए निम्न मन्त्रों से ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना उपासना करे–

प्रातःकालीन मन्त्र

ओ३म् प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम ।।१।।

[ऋ० ७.४१.१]

अर्थ–हम प्रतिदिन (प्रातः) प्रभातवेला में (अग्निम्)[२] प्रकाश और ज्ञानस्वरूप परमात्मा की, (प्रातः) प्रभातवेला में (इन्द्रम्)[2] महान् शक्तिशाली और परमऐश्वर्यशाली प्रभु की (प्रातः) इस प्रभातवेला में (मित्रावरुणा)[३] सबके मित्र और सबके द्वारा कामना करने योग्य परमेश्वर की, अथवा प्राण–अपान स्वरूप ईश्वर की (प्रातः) इस प्रभातवेला में (अश्विना)[४] सर्वव्यापक परमात्मा की अन्तः और बाह्य व्यापिनी शक्ति की (हवामहे) स्तुति करते हैं। (प्रातः) इस प्रभातवेला में (भगम्) भक्ति करने योग्य (पूषणम्)[५] सब जगत् का पालन-पोषण करने वाले (ब्रह्मणस्पतिम्) वेदवाणी के स्वामी एवं सबसे महान् (सोमम्)[६] उपासकों को आनन्द देने वाले, सबको सन्मार्ग में प्रेरित करने वाले, सबके उत्पादक और सबके द्वारा उपासनीय, ऐश्वर्यप्रद (उत) और (रुद्रम्)[७] दुष्टों को दण्ड देने वाले परमेश्वर की (हुवेम) स्तुति करते हैं।

२. **अग्नि और इन्द्र**–ये दोनों विशेषताभेद से परमात्मा के ही नाम हैं। 'अञ्चु-गतिपूजनयोः' अथवा 'अग-अगि-गतौ' धातुओं से अग्नि पद सिद्ध होता

है। गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन, प्राप्ति। पूजन का अर्थ है—सत्कार। इस प्रकार इसकी व्युत्पत्ति बनेगी—"यो अञ्चति, अच्यते, अगति, अङ्गतेति सोऽ यमग्निः" = जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने योग्य, प्राप्त करने योग्य और पूजा के योग्य है, वह अग्नि परमात्मा है। शतपथ में कहा है—"**अग्निरेव ब्रह्म**" [१०.४.१.५] = अग्नि ब्रह्म का ही नाम है।

"इदि-परमैश्वर्ये' धातु से रन् प्रत्यय के योग से 'इन्द्र' पद सिद्ध होता है। "इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः" = जो समस्त बल-ऐश्वर्य युक्त है, वह इन्द्र परमात्मा का नाम है। तै०ब्रा० में आता है—**यो ह खलु वाव प्रजापतिः स उ वावेन्द्रः**" [१.२.२.५] = जो प्रजापति है, वही इन्द्र है। स्वयं वेदों में भी कहा है कि ये ईश्वर के ही गौण नाम हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निराहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।
[ऋ० १.१६४.४६]

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः सः प्रजापतिः।। [यजु० ३२.१]

३. **मित्रावरुणा**—पिछली टिप्पणी में उद्धृत मन्त्रों में मित्र और वरुण परमात्मा के नाम आये हैं। 'ञिमिदा-स्नेहने' धातु से 'क्त्र' प्रत्यय होकर मित्र शब्द बनता है, जिसका अर्थ है जो सभी प्राणियों से स्नेह करता है। 'वृञ्-वरणे' धातु से औणादिक 'उनन्' प्रत्यय के योग से 'वरुण' पद की सिद्धि होती है। इसका अर्थ है—सबके द्वारा वरणीय, सर्वश्रेष्ठ परमात्मा। इन दोनों पदों के समास में 'मित्रावरुणा' द्विवचनान्त पद बनता है। दोनों ही विशेषताएं होने से परमेश्वर 'मित्रावरुणा' है। 'मित्रावरुणा' प्राण-अपान को भी कहते हैं। [तां०ब्रा० ६.१०.५; शत० ८.४.२.६] इस आधार पर जो प्राण-अपान स्वरूप है, उस गुण वाले परमात्मा का भी यह नाम है।

४. **अश्विना**—यह भी द्विवचनान्त पद है जो 'अशूङ्-व्याप्तौ' धातु से 'विनि' प्रत्यय के योग से बनता है। जो परमात्मा ब्रह्माण्ड में अपनी अन्तःव्यापिनी शक्ति से पदार्थों के अन्दर और बाह्य व्यापिनी शक्ति से पदार्थों के बाहर व्याप्त है। इन दोनों शक्तियों की विशेषता के कारण परमात्मा का नाम 'अश्विना' है।

५. **पूषणम्**—पूषा शब्द का द्वितीया विभक्ति एकवचन है। 'पूष-पुष्टौ' धातु से 'कनिन्' प्रत्यय होकर 'पूषन्' शब्द बनता है। पूषा परमात्मा का नाम है क्योंकि वह पदार्थों के अन्दर-बाहर व्याप्त होकर और प्राणियों को पोषणीय पदार्थ व शक्तियाँ प्रदान कर उन्हें पुष्ट करता है। अन्न, जल, प्रकाश, वायु आदि जीवनदायक और पोषक पदार्थ परमात्मा के ही दिये हुए हैं।

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ।।२।।

[ऋक्० ७.४१.२]

अर्थ—(वयं प्रातः) हम प्रातः काल में (जितम्) जयशील (भगम्)[८] भक्ति करने योग्य (उग्रम्) तेजःस्वरूप (अदितेः पुत्रम्)[९] अखिल ब्रह्माण्ड के रक्षक और (यः विधर्ता) जो उसका धारण करने वाला है, उस

---

६. **सोमः**—'षुञ्-अभिषवे' और 'षू-प्रेरणे' और 'षु-प्रसवैश्वर्ययोः' इन सभी धातुओं से 'मन्' प्रत्यय के योग से 'सोम' पद सिद्ध होता है। ये सभी अर्थ सोम के हैं। जिसकी उपासना की जाती है, जो सबको सन्मार्ग की प्रेरणा देने वाला है, जो सबका उत्पादक और सबको आनन्द तथा ऐश्वर्य प्रदान करने वाला है, ऐसे गुण वाले परमात्मा को 'सोम' नाम से पुकारते हैं।

७. **रुद्रः**—'रुदिर्-अश्रुमोचने' से 'रक्' प्रत्यय से तुक् होकर, 'रुत्' शब्द उपपद में होकर 'द्रु-गतौ' धातु से 'डः' प्रत्यय होकर, अथवा 'रु-शब्दे' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय और तुगागम होने पर 'रुद्र' शब्द बनता है। दुष्टों को कठोर कर्मफल या दण्ड देकर रुलाने से परमात्मा का नाम रुद्र है। निरुक्त में भी कहा है—"**रोदयतेर्वा**" [१०.६]= रुलाने से परमात्मा रुद्र है।

८. **भगः**—यह मन्त्रों में भग पद की अनेक बार आवृत्ति हुई है। यह परमेश्वर का नाम है। प्रातःकाल के समय उठ कर व्यक्ति सबसे पहले परमात्मा का ही स्मरण और उपासना करता है। वही सबसे पहले उपास्य है। इसी भाव पर बल देने के लिए प्रातःकाल के मन्त्रों में परमात्मा को बार-बार 'भग' नाम से सम्बोधित किया गया है। यह पद 'भग-सेवायाम्' धातु से 'घः' प्रत्यय के योग से बना है। भजनीय अर्थात् सेवनीय उपासनीय होने से परमात्मा का नाम 'भग' है। निरुक्त में भी यही व्युत्पत्ति दी है—"**भगो भजतेः**" [१.६]। "**भगः धननाम**" [निघ० २.१०] भग धन का नाम है। समस्त धन-ऐश्वर्य से परिपूर्ण होने और उपासकों को प्रदान करने के कारण भी परमात्मा 'भग' है।

९. **अदितेः पुत्रम्**—ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में अखिल ब्रह्माण्ड को अदिति कहा है—"**अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वे देवा अदितिःपञ्च जना अदितिर्जातयदितिर्जनित्वम् ।।**" [ऋ० १.८९.१०]। यहां सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उसके पदार्थों का अदिति संज्ञा दी है। पुत्र उसको कहते हैं जो पूर्ण रक्षा करता है—"**पुरु त्रायते**" [नि० २.११]। इस प्रकार इस शब्द का अर्थ 'अखिल ब्रह्माण्ड का रक्षक परमात्मा' बनता हैं, क्योंकि परमात्मा ही ब्रह्माण्ड का रक्षक है।

परमेश्वर की (हुवेम) स्तुति करते हैं। (यम्) जिस परमात्मा को (आघ्रः + चित्) निश्चय से हृदय में धारण करने योग्य (मन्यमानः) सबका जानने हारा, (तुरश्चित्) दुष्टों को दण्ड देने वाला (राजा) सबका अधिष्ठाता = शासक और (भगम्) भजनीय = उपासनीय है, और (यं चित्) उसको निश्चय से (भक्षि) सेवन करो = उसकी उपासना अवश्य करो (इति + आह) ऐसा वेदों में कहा है। उसी ईश्वर की हम उपासना करते हैं।

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ।।३।।

[ऋक् ७.४१.३]

अर्थ—(भग) हे स्तुति-प्रार्थना—उपासना करने योग्य (प्रणेतः) उत्तम कामों में प्रेरक! (भग) ऐश्वर्यवन्! (सत्यराधः) सत्यस्वरूप! अविनाशी! (भग) सबके उपासनीय! (नः) हमको (धियः) उत्तमबुद्धि (ददत्) दीजिये और (इमाम् उदव) इसकी वृद्धि करते हुए रक्षा कीजिये। (भग) हे ऐश्वर्यवन् परमेश्वर! (नः) हमें (गोभिः अश्वैः प्रजनय) गौओं—अश्वों आदि साधनों से उन्नत—सम्पन्न कीजिये। (भग) हे सबके द्वारा सेवनीय प्रभु! (नृभिः नृवन्तः प्रस्याम) उत्तम जनों से पर्याप्त जनों वाले = भरे-पूरे उत्तम परिवार और समाज वाले होवें।

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ।।४।।

[ऋ० ७.४१.४]

अर्थ—हे परमात्मन्! आपकी कृपा से हम (इदानीम्) इस उपासना के प्रभात काल में (उत) और (अह्नाम्) प्रत्येक दिन के (प्रपित्वे)[10] प्राप्तिकाल अर्थात् उदयकाल में (उत) और (मध्ये) मध्यकाल में (भगवन्तः स्याम) प्रत्येक प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न होवें, भक्ति,

---

१०. प्रपित्वे—"प्रपित्वे प्राप्ते" [नि० ३.२०]।

शक्ति, आरोग्य, सम्पत्ति आदि से सम्पन्न होवें। (मघवन्)[11] हे ऐश्वर्यों की वर्षा करने वाले परमेश्वर! आपकी कृपा से (वयम्) हम (सूर्यस्य उदिता) सूर्य के उदयकाल में (देवानां सुमतौ स्याम)[12] देवों = दिव्य गुण, कर्म, स्वभाव वाले विद्वानों की उत्तम बुद्धि में रहें अर्थात् दिन का प्रारम्भ होते ही हम उत्तम विद्वानों के कृपापात्र और शिक्षापात्र बनकर उनकी उत्तम संगति में रहें।

भग एव भगवाँ२ऽ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरऽएता भवेह ।।५।।

[ऋक्० ७.४१.५।।]

अर्थ—हे भगवन्! (भगः + एव) आप परम-ऐश्वर्ययुक्त हैं, अतः आप ही हमारे (भगवान् अस्तु) समस्त ऐश्वर्य के दाता एवं उपासनीय होवें। (तेन) आपके कारण से अर्थात् आपकी उपासना और संगति से (वयम्) हम लोग (देवाः भगवन्तः स्याम) दिव्य = उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव वाले विद्वान् और ऐश्वर्य सम्पन्न बनें। (भग) हे भजनीय प्रभो! (तम् त्वा इत्) निश्चय से आपकी ही (सर्वः) सब लोग (जोहवीति) स्तुति—प्रार्थना—उपासना करते हैं, अग्निहोत्र में आहुतियां देते हुए उपासना करते हैं, (भग) हे पूज्य एवं सकल ऐश्वर्ययुक्त परमात्मन्!

---

११. **मघवन्**—"**मघम् धननाम**" [निघ० २.१०], "**मघा धनानि**" [नि० ५.१६], "**मघमिति धननामधेयं मंहतेः दानकर्मणः**" [नि० १.७] मघ धन को कहते हैं, क्योंकि उसका दान किया जाता है। मघ शब्द से मतुप् प्रत्यय होकर 'मघवन्' बना। इसका अर्थ है—अत्यन्त धन-ऐश्वर्य से युक्त और उनकी वर्षा करने वाला परमात्मा।

१२. **देव**—देव शब्द 'दिवु' धातु से बना है। दिव्य गुण, कर्म, स्वभाव वाले विद्वानों को 'देव' कहा जाता है। "**देवो दानाद् वा**" [नि० ७.१५] = विद्या का दान करने से 'विद्वान्' देव हैं। शतपथ में भी कहा है—"**विद्वांसो हि देवाः**" [३.७.३.१०] = विद्वानों को देव कहते हैं। ये विद्वान् सत्याचरण वाले और बहुश्रुत तथा विद्याओं में पारंगत होने चाहियें। इन गुणों का संकेत ब्राह्मणग्रन्थों के निम्न वचनों से मिलता है—"**सत्यसंहिता वै देवाः**" [ऐ० ब्रा० १.१६] "**ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः**" [शत० २.४.३.१४] "**सत्यमया उ देवाः**" [कौ० २.८]

(इह) इस लोक या जीवन में (नः पुरः+एता भव) हमारे अग्रगामी= मार्गदर्शक और उत्तम मार्ग पर ले जाने वाले होइये।

इन मन्त्रों से परमेश्वर की स्तुति—प्रार्थना—उपासना करने के उपरान्त परस्पर अभिवादन करें, तत्पश्चात् निम्न नित्यकर्म करें—

२—शौच

३—दन्तधावन

४—व्यायाम

५—स्नान

६—पुनः स्वाध्याय, योगाभ्यास आदि

७—दैनिक पञ्चमहायज्ञ

(क) ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्योपासन और स्वाध्याय)

(ख) देवयज्ञ (अग्निहोत्र)

(ग) पितृयज्ञ

(घ) बलिवैश्वदेवयज्ञ

(ङ) अतिथियज्ञ

८—तत्पश्चात् भोजन तथा अन्य कार्य।

इन नित्यकर्मों में प्रथम चार कर्म अमन्त्रक ही होते हैं। किन्तु कुछ विद्वानों ने स्नान और भोजन में तद्विषयक मन्त्रों का विनियोग किया है, जिनका प्रचलन भी हो गया है, अतः यहां उनको अर्थसहित दिया जा रहा है—

स्नान करते समय उच्चारणीय मन्त्र—

ओ३म् आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे।।१।। [अथर्व० १.५.१]

अर्थ—(आपः) हे जलो! (हि) निश्चय से तुम (मयोभुवः स्थ)[१३] सुख और आरोग्य को देने वाले हो (ताः) ऐसे गुणों वाले तुम (नः) हमको (ऊर्जे)[१४] बल-उत्साह प्रदान करने के लिए और अन्न आदि भोज्य

---

१३. **मयोभुवः—मय+ भू-क्विप् प्रत्यय। "मयोभुवः सुखभुवः"** [नि० ९.२५]।

१४. **ऊर्जे—**'ऊर्ज-बलप्राणनयोः' धातु से क्विप् प्रत्यय। "**ऊर्क् अन्ननाम**" [निघ० २.७]।, "**ऊर्जे अन्नाय**" [नि० ९.२६]।

पदार्थों के प्राप्त कराने के लिए, (महे रणाय चक्षसे)[१५] अत्यन्त रमणीय जीवन एवं जगत् के दर्शन के लिए (दधातन) पुष्ट करो। अर्थात् सुख, आरोग्य, अन्न, जीवनदायक जल के गुणों का हम लाभ उठाकर पुष्ट एवं स्वस्थ बनें।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ।।२।। [अथर्व० १.५.२]

अर्थ–(यः वः) जो तुम्हारा (शिवतमः रसः) अत्यन्त कल्याणकारी रस= गुण है, (तस्य) उस गुण का (नः) हमें (इह) इस संसार में (भाजयत) भागी करो, वह हमें प्राप्त होवे। (उशतीः मातर इव) जैसे बच्चे की कामना करती हुई माताएं प्रीतिपूर्वक उसको प्राप्त होती हैं और उसको सुख देती हैं। इसी प्रकार जल हमें सुख प्रदान करें।

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ।।३।। [अथर्व० १.५.३]

अर्थ–(यस्य) जिस (क्षयाय)[१६] गुण या ऐश्वर्य प्रदान करके के लिए (जिन्वथ) तुम समर्थ हो (तस्मै) उसी की प्राप्ति के लिए (वः अरं गमामः) तुम्हें हम शीघ्र प्राप्त होते हैं अर्थात् तेरे गुणों से हम लाभ उठाते हैं। (आपः) जलो! तुम (नः) हमको (जनयथ) जीवन देने वाले हो, हमारे जीवन-रक्षक हो।

---

१५. **रणाय**–**"रणाय रमणीयाय"** [नि० ९.२७]। 'रमु-क्रीडायाम्' धातु से नक् प्रत्यय।

१६. **क्षयाय**–यह शब्द 'क्षि-निवासगत्योः' धातु से सिद्ध होता है। यहाँ चतुर्थी एकवचन का प्रयोग है। गति के तीन अर्थ होते हैं–ज्ञान, गमन, प्राप्ति। इस प्रकार 'क्षय' से यहाँ अभिप्राय ज्ञानगुण, गतिशीलता और ऐश्वर्य प्राप्ति है। स्नान करने से शरीर में स्फूर्ति और बुद्धि में गतिशीलता आती है। सिचन क्रिया से जल ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। निघण्टुकार ने क्षि धातु को ऐश्वर्य अर्थ में माना है–**"क्षयति ऐश्वर्यकर्मा"** [निघ० २.२१]। इस प्रकार 'क्षय' का ऐश्वर्य अर्थ अभिप्रेत है।

ईशाना वार्य्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।
अपो याचामि भेषजम् ।।४।। [अथर्व० १.५.४]

अर्थ–(वार्याणाम्)[१७] वरणीय या कामना करने योग्य सुखों के (ईशानाः)[१८] स्वामी, (चर्षणीनाम्)[१९] मनुष्यों के (क्षयन्तीः) जीवन और ऐश्वर्य के हेतु जो जल हैं, उन (अपः) जलों से मैं (भेषजं याचामि) औषध गुणों और स्वस्थता की कामना करता हूँ। अर्थात् जलों से हम इन लाभों को प्राप्त करें।

ओं शं नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये ।
शं योरभि स्रवन्तु नः ।।५।। [अथर्व० १.६.१]

अर्थ–(देवीः आपः) दिव्यगुण वाले जल (नः) हमको (अभिष्टये) अभीष्ट भोगों की प्राप्ति के लिए और (पीतये) पीने के लिए (शम् भवन्तु) कल्याणकारी होवें। (नः) हम पर (शंयोः)[२०] सुख-शान्ति की (अभिस्रवन्तु) चारों ओर से वर्षा करें अर्थात् हमें सुख, समृद्धि आरोग्य आदि से युक्त करें।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ।।६।। [अथर्व० १.६.२]

अर्थ–(सोमः)[२१] सुख–ऐश्वर्य प्रदान करने वाले परमात्मा ने (मे-अब्रवीत्) मुझे [वेदमन्त्रों के द्वारा] बताया है कि (अप्सु अन्तः) जलों

---

१७. **वार्याणाम्–'वृञ् वरणे'** धातु से ण्यत् प्रत्यय। "**वार्यं वृणोतेः, अथापि वरतमम्**" [नि० ५.१]। **वार्याणाम् = वरणीयानाम्, काम्यानां वा।**

१८. **ईशानाः–'ईश-ऐश्वर्ये'** धातु से चानश् प्रत्यय। "**समर्थाः स्वामिनः**" [ऋषि दया० भा० ऋ० १.७३.९]।

१९. **चर्षणीनाम्–"चर्षणयः मनुष्यनाम"** [निघ० २.३] "**चर्षणीनाम् = मनुष्याणाम्**" [नि० १२.२१]।

२०. **शंयोः–"शम् सुखनाम"** [निघ० ३.६] विस्तृत टिप्पणी द्रष्टव्य है इसी अध्याय में संख्या ३८ पर।

२१. **सोमः–"सोमो वा इन्द्रः"** [शत० २.२.३.२३]। विस्तार के लिए द्रष्टव्य टिप्पणी संख्या ६, ७४, १५६, २०३, ३५४

के अन्दर (विश्वानि भेषजा) सब औषधियां= रोगनिवारक और आरोग्यदायक तत्त्व हैं (च) और (विश्वशम्भुवम् अग्निम्) विश्व का कल्याण करने वाली विद्युत्, भौतिक अग्नि अथवा पाचकाग्नि विद्यमान है। जल में निहित अग्नि या विद्युत् को प्राप्त करके अनेक लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं और जलों से रोगों का निवारण भी किया जा सकता है।

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम ।

ज्योक् च सूर्यं दृशे ।।७।। [अथर्व० १.६.३]

अर्थ—(आपः) हे जलो! (ज्योक् सूर्यं दृशे)[२२] चिरकाल तक सूर्य को देखने के लिए अर्थात् दीर्घ जीवन के लिए (मम तन्वे) मेरे शरीर में (भेषजम्) स्वस्थता (च) और (वरुथम्)[२३] वरणीय दृढ़ता एवं सौन्दर्य को (पृणीत) पुष्ट करो, प्रदान करो।

शं न आपो धन्वन्या३ः शमु सन्त्वनूप्याः ।

शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः

शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ।।८।। [अथर्व० १.६.४]

अर्थ—(नः) हमारे लिए (धन्वन्याः आपः) मरुभूमि में प्राप्त होने वाले जल (शम्) कल्याणकारी होवें, (अनूप्याः) जलीय प्रदेश के जल (शम्+उ सन्तु) निश्चय से कल्याणकारी होवें (खनित्रिमाः आपः) खोदकर निकाले गये कूएं आदि के जल (नः शम्) हमारे लिए कल्याणकारी होवें, (याः कुम्भे आभृताः) जो घड़े आदि पात्रों में भरकर रखे गये जल हैं, वे भी (शम्+उ) कल्याणकारी होवें, (वार्षिकीः) वर्षा के जल (नः शिवाः सन्तु) हमारे लिए कल्याणकारी होवें। अर्थात् इन सभी जलों को हम कल्याणकारी बना के उपयोग में लायें।

शास्त्रों में स्नान सम्बन्धी नियमों की विस्तार से चर्चा आती है। यह शरीर-शुद्धि का और मानसिक प्रसन्नता का उत्तम उपाय है। व्यक्ति को प्रतिदिन दोनों समय स्नान करना चाहिये। शास्त्रों में बहते और ताजे जलों से स्नान करने का निर्देश है। जल न अधिक शीतल हो

---

२२. **ज्योक्—"ज्योक् चिरार्थे"** [ऋषि द०भा०ऋ० १.२३.२१]।

२३. **वरूथम्—'वृञ् वरणे'** धातु से औणादिक [२.६] ऊथन् प्रत्यय।

और न उष्ण। शीतल जल से स्नान शिर से प्रारम्भ करना चाहिये और उष्ण जल हो तो पैरों से स्नान प्रारम्भ करें। प्राचीन ग्रन्थों में शिर से स्नान प्रारम्भ करने का उल्लेख मिलता है, जो यह संकेत देता है कि मुख्यतः ताजे शीतल जल से स्नान किया जाता था। स्नान अच्छे,प्रसन्न एवं सुन्दर स्वास्थ्य का साधन है। यह आयुवर्धक है। यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों से पूर्व स्नान एक आवश्यक कर्म है।

भोजन के समय उच्चारणीय मन्त्र–

प्रत्येक व्यक्ति दोनों समय भोजन करने से पूर्व और पश्चात् निम्न वेदमन्त्रों का अर्थ चिन्तनपूर्वक उच्चारण करे। इन मन्त्रों के उच्चारण का उद्देश्य यह है कि भोजन करने वाला, प्रभु का स्मरण करके उसके प्रति कृतज्ञता का अनुभव करे, भोज्यान्न के प्रति आदरभाव रखे, उसे खाने से नैरोग्य और बल-प्राप्ति की प्रार्थना करे और बांट कर खाने की भावना रखे। यह अनुभव करे कि अकेला खाने वाला केवल पाप को खाता है। यही पवित्र विचार इन मन्त्रों में निहित है। प्रतिदिन मन्त्रोच्चारण करने से व्यक्ति के ये श्रेष्ठ संस्कार प्रबल बनते हैं।

भोजन से पूर्व उच्चारणीय मन्त्र–निम्न मन्त्र का उच्चारण करने के उपरान्त भोजन करें–

ओम् अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्र प्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ।।

[यजु० ११.८३]

अर्थ–(अन्नपते) हे अन्न प्रदान करने वाले अन्न के स्वामी परमात्मन्! (नः) हमें (अनमीवस्य)[२४] रोगरहित अर्थात् नैरोग्य प्रदान करने वाले, और (शुष्मिणः)[२५] बल देने वाले (अन्नस्य देहि) अन्न के भाग को प्रदान करो–ऐसा अन्न प्राप्त कराओ। (प्रदातारम्) अन्न आदि का दान करने वाले को (प्रतारिष) अपनी कृपा से उन्नत एवं समृद्ध बनाओ, और (नः) हमारे (द्विपदे) दो पैर वालों अर्थात् पारिवारिक जनों के लिए

२४. **अनमीवस्य–'अम रोगे'** धातु से औणादिक ईवन् प्रत्यय। न+ अमीवा। **'अनमीवस्य शुष्मिणः, इत्याहायक्ष्मस्येति वावैतदाह''** [तै० सं० ५.२.२]।

२५. **शुष्मिणः–''शुष्मम् बलनाम''** [निघ० २.९]।, **''शुष्ममिति बलनाम शोषयतीति सतः''** [नि० २.२४]।

और (चतुष्पदे) चार पैर वालों अर्थात् पशुओं के लिए (ऊर्जं धेहि) अन्न, बल आदि प्रदान करो।

भोजन करने के बाद उच्चारणीय मन्त्र—भोजन करने के बाद निम्न मन्त्र का उच्चारण करके उठें—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ।।

[ऋ० १०.११७.६]

अर्थात्—(अप्रचेताः) अनुदार चित्त वाला स्वार्थी व्यक्ति (अन्नं मोघं विन्दते) अन्न-धन को व्यर्थ = निष्फल ही पाता है। (सत्यं वदामि) मैं यह सच कहता हूँ कि (सः तस्य वध इत्) वह अन्न-धन उसकी मृत्यु ही है अर्थात् ऐसा अन्न रोगादि उत्पन्न करके उसके लिए मृत्यु का कारण बनता है, क्योंकि (न अर्यमणं[२६] पुष्यति) न तो वह विद्यादाता विद्वानों को तृप्त करता है, और न यज्ञ आदि द्वारा ईश्वर की उपासना करता है और न देवताओं को भाग देता है, तथा (न सखायम्) न मित्रों को तृप्त करता है। ऐसा (केवलादी) केवल स्वयं ही खाने वाला व्यक्ति (केवलाघो भवति) केवल पापरूप होता है, वह उस भोजन के रूप में पाप का भक्षण करता है अर्थात् इस प्रकार उसके मन में पाप के संस्कार ही पनपते हैं।

भाव यह है कि केवल स्वार्थ की पूर्ति करने वाला, केवल अपने ही खाने का ध्यान रखने वाला व्यक्ति पापों की ओर प्रवृत्त होता जाता है। विद्वानों और अच्छे मित्रों की संगति न होने से उसे सत्कर्मों की शिक्षा नहीं मिल पाती। अतः मिल-बांटकर खाना चाहिये। केवल अपनी उदरपूर्ति की चिन्ता तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये, अपितु दूसरों को भी अन्न-भोजन आदि देना चाहिये। केवल अपनी उदरपूर्ति करना तो पाशविक प्रवृत्ति है, मानवता नहीं। यह प्रवृत्ति मनुष्य को अधोगति की

---

२६. **अर्यमणम्**—'**ऋ-गतौ**' धातु से "**अर्यः स्वामी वैश्ययोः**" [अ० ३.१.१०३] सूत्र से यत् प्रत्यय होकर अर्यः पद सिद्ध होता है। '**अर्य + माङ्-माने**' धातु से औणादिक [१.१५९] कनिन् प्रत्यय। "**अर्यः ईश्वर**" [नि० १३.४]।, "**यज्ञो वा अर्यमा**" [तै० २.३.५.४], "**अर्यमा-इति तमाहुः यो ददाति**" [तै० १.१.२.४], "**अर्यमा सप्तहोतृणां होता**" [तै० २.३.५.६]।

ओर ले जाकर पापमय बनाती है। इसीलिए यह भारतीय संस्कृति है कि पहले अतिथि आदि दूसरे को खिलाकर पश्चात् स्वयं खायें। इससे त्याग, निर्लिप्तता एवं सहिष्णुता आदि भाव बढ़ते हैं।

भोजन सम्बन्धी सुन्दर उपदेश—भोजन के समय उच्चारणीय मन्त्रों में जो सुन्दर भाव निहित है, उसी सुन्दर भाव को शास्त्रकारों ने अपने ग्रन्थों में विस्तार से स्पष्ट किया है और भोजन सम्बन्धी नियम और निर्देश दिये हैं। वे सभी के लिए हितकारी हैं। धर्मशास्त्रों में बताया है कि तामसिक एवं राजसिक भोजन नहीं करने चाहियें, सात्विक पदार्थों का ही सेवन करना चाहिये। क्योंकि 'जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन' लोकोक्ति के अनुसार मनुष्य जैसा भोजन करेगा वैसा ही उसका मन और आचरण होगा। आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी उस विषयक स्पष्ट निर्देश मिलते हैं, जैसे—उच्छिष्ट (झूठा) बासी, अतिउग्र, अतिउष्ण, अतिशीतल, मिर्च-मसाले, मांस आदि; अति भोजन, मात्रा से अधिक भोजन, प्रकृति और ऋतुविरुद्ध भोजन नहीं करना चाहिये। भूख लगने पर खाये; न बहुत देर लगाकर, न बहुत शीघ्र, न हंसते-बोलते या कोई अन्य कार्य करते भोजन करे। भोजन में मन लगाकर आदर भाव से भोजन करे, इत्यादि। मनुस्मृति में इस विषयक बहुत सुन्दर और उपयोगी श्लोक आये हैं। पाठकों के लाभार्थ वे यहां उद्धृत किये जाते हैं—

"**अश्नीयात् आचम्य प्राङ्मुखः शुचिः**" [२.५१]

अर्थ—'स्नान से शुद्ध होकर, पूर्वाभिमुख बैठकर, आचमन करके फिर भोजन करे।' भोजन से पूर्व आचमन का महत्त्व इसलिए है कि आचमन से भोजननलिका साफ हो जाती है और उग्र पाचकाग्नि सम हो जाती है। मन्त्र उच्चारण करने के बाद आचमन करें।

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ।।

[मनु० २.५३]

अर्थ—'द्विज प्रतिदिन आचमन करके एकाग्र मन से भोजन करे और खाने के बाद अच्छी प्रकार कुल्ला करे तथा जल से नाक, मुख, नेत्र आदि इन्द्रियों का स्पर्श करे अर्थात् उन्हें धोये।'

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ।। [२.५४]

अर्थ—'प्रतिदिन खाते समय भक्ष्य पदार्थ का आदर करे। उसे निन्दाभाव से रहित होकर अर्थात् श्रद्धापूर्वक खाये। भोजन को देखकर मन में आनन्द और प्रसन्नता का अनुभव करे तथा सर्वदा उसकी प्रशंसा करे।'

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ।। [२.५५]

अर्थ—'श्रद्धा—आदरपूर्वक किया हुआ भोजन बल और स्फूर्ति प्रदान करता है। वही अनादर पूर्वक खाया हुआ इन दोनों बल और स्फूर्ति को नष्ट करता है।' अर्थात् अनादरपूर्वक किया भोजन शरीर में उचित गुण नहीं करता।

नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यात्, नाद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ।। [२.५६]

अर्थ—'न किसी को अपना झूठा पदार्थ दे, न किसी का झूठा खाये, किसी के साथ झूठा भोजन न करे। अधिक भोजन न करे। भोजन करने के बाद झूठे मुख-हाथ कहीं इधर-उधर न जाये।'

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ।। [२.५७]

अर्थ—'अधिक भोजन करना स्वास्थ्यनाशक, आयुनाशक, दुःख या कष्टदायक, अहितकर और विद्वानों द्वारा निन्दनीय माना गया है। अतः अधिक भोजन कभी न करे।' मिताहारी रहे अर्थात् कुछ भूख शेष रहे, ऐसा भोजन करे। इसी आधार पर यह कहावत लोक में भी प्रचलित है—'स्वल्पाहारी सदा सुखी।' व्यक्ति इन नियमों का ध्यान रखे और सदा यज्ञशेष भोजन करे [मनु० ३.२८५] अर्थात् सन्ध्या-उपासना यज्ञ करने के अनन्तर ही भोजन करे। जिस दिन प्रमाद से इन्हें न करे तो उस दिन उस समय का उपवास रखे। ऐसी शास्त्रों ने मर्यादा निश्चित की है।

आर्यों की भोजन सम्बन्धी यह भी मर्यादा है कि आये हुए अतिथियों, रोगियों, वृद्धजनों, अपने आश्रितों और भृत्यों आदि को पहले

भोजन कराके प्राणियों के लिए बलिभाग निकालकर गृहस्थ दम्पती तत्पश्चात् भोजन करें। यह मर्यादा अतिथि, पितृ और बलिवैश्वदेव यज्ञों के अन्तर्गत आ जाती है–

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ।।
देवानृषीन् मनुष्यांश्च पितृन्गृह्याश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुक् भवेत् ।।

[मनु० ३.११६.११७]

अर्थात्–'विद्वान् अतिथियों और अपने आश्रित भृत्यों के पहले भोजन कर लेने के बाद शेष बचे भोजन को दम्पती खायें। दिव्यगुणयुक्त विद्वानों, ऋषियों, साधारण मनुष्यों,जो अतिथिरूप में आये हैं,और माता-पिता आदि वयोवृद्धों,तथा बलिवैश्वदेव और देवयज्ञ द्वारा भोजन की बलि द्वारा हवि देकर तदनन्तर शेष बचे भोजन को गृहस्थ खायें।

अघं स केवलं भुङ्क्ते य पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ।। [३.११८]
विघशासी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ।। [३.२८५]

अर्थात्–'जो व्यक्ति केवल अपनी उदरपूर्ति के लिए पकाता है, वह समझो कि केवल पाप खाता है। पांच यज्ञों के अनुष्ठान के बाद शेष बचा भोजन ही श्रेष्ठों का अन्न माना गया है। बिना यज्ञ का भोजन असत्पुरुषों का भोजन है। गृहस्थ को चाहिये कि वह नित्य या तो 'विघस' भोजन करने वाला होवे, अथवा अमृत भोजन करने वाला। अतिथियों, मित्रों आदि के खाने के उपरान्त शेष बचा भोजन 'विघस' कहलाता है और यज्ञ में आहुति देने के उपरान्त बचा भोजन 'अमृत' कहलाता है।'

ब्रह्मचारियों के लिए यह विधान है कि वे भिक्षा आदि पहले गुरु को देकर, तदवशिष्ट भोजन करें [मनु० २.५१]

(आ) सायंकालीन दिनचर्या

इसी प्रकार सायंकाल की नित्यचर्या निम्न क्रम से सम्पन्न करनी चाहिये। सायंकाल अग्निहोत्र सन्ध्या से पूर्व सम्पन्न किया जाता है। इसे सूर्यास्त होते-होते सम्पन्न कर लेना चाहिये। तत्पश्चात् सन्ध्योपासन करना चाहिये। इसी समय के अनुसार नित्यचर्या का प्रारम्भ करना चाहिये—

१. शौच
२. दन्तधावन
३. व्यायाम
४. स्नान
५. देवयज्ञ (अग्निहोत्र), ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्योपासन) एवं स्वाध्याय पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ, अतिथियज्ञ।
६. भोजन
७. भोजनोपरान्त भ्रमण

(इ) रात्रिकालीन दिनचर्या

रात्रि में [दस बजे के लगभग] शयन करें। शयन से पूर्व अपनी शय्या पर बैठ, निम्न 'शिवसंकल्प' मन्त्रों द्वारा प्रार्थना करें। सोते समय 'शिवसंकल्प' मन्त्रों से प्रार्थना करने से मन शुद्ध, पवित्र और शान्त होता है। स्वप्नकालीन अशान्ति, बुरे स्वप्नों का आना आदि दूर हो जाते हैं। प्रातः उठते समय सुख-शान्ति का अनुभव होता है। क्योंकि मनुष्य सोते समय जैसी भावना लेकर सोता है, सोते हुए अवचेतन मन में वैसी ही भावनाएं सक्रिय होती रहती हैं। इधर-उधर भटकते मन को 'शिवसंकल्प' मन्त्रों द्वारा वश में करके सोने से मन शान्त हो जाता है। मन्त्र निम्न हैं—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।१।।

[यजु० ३४.१]

अर्थ—हे परमात्मन्! (दैवम्) मेरा दिव्यगुणयुक्त, इन्द्रियों का

प्रकाशक मन (यत् जाग्रतः) जैसे जागते हुए (दूरम् + उदैति) दूर-दूर तक चला जाता है, (तत् + उ) वही मेरा मन (तथैव) उसी प्रकार (सुप्तस्य एति) सोते हुए का भी दूर तक जाता है। (दूरङ्गमम्) दूर तक जाने वाला, दूर तक जाने के स्वभाव वाला, (ज्योतिषाम् ज्योतिः)[२७] शब्द आदि विषयों की प्रकाशक इन्द्रियों का भी प्रकाशक = साधक (एकम्) जो एक ही है (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पमस्तु) शुभ संकल्प-विकल्प = विचारों वाला होवे।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।२।।

[यजु० ३४.२]

अर्थ–(येन) जिस मन के द्वारा (अपसः)[२८] कर्त्तव्यनिष्ठ लोग, महान् कर्म करने वाले लोग (मनीषिणः) मनस्वी जन (धीराः) धैर्यशाली जन (विदथेषु)[२९] ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विशेष अवसरों पर अथवा ऐसे (यज्ञे) यज्ञ में (कर्माणि कृण्वन्ति) कर्तव्य कर्मों को करते हैं, (यत् + अपूर्वम्) जो अद्भुत सामर्थ्य से युक्त है, और (यक्षम्) पूजनीय है, जो (प्रजानाम् अन्तः) प्राणियों के भीतर स्थित है, (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पम् + अस्तु) शुभ संकल्प–विकल्प अर्थात् शुभ विचारों वाला होवे।

यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।३।।

[यजु० ३४.३]

अर्थ–(यत्) जो मन (प्रज्ञानम्) प्रकृष्ट ज्ञान का साधक है (उत)

---

२७. **ज्योतिषां ज्योतिः**–प्रकाशकों का भी प्रकाशक मन, वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान एवं ग्रहण कराने वाला। "**यथामूनि त्रीणि ज्योतींषि, एवमिमानि पुरुषे त्रीणि ज्योतींषि... आत्मनि हृदयम्।**" [शा० आ० ७.४]।

२८. **अपसः**–"**अपः कर्मनाम**" [निघ० २.१]। "**आप्यते सुखंयेन तद् अपः अपत्यं सुकर्म वा।**" **अपसः = कर्मनिष्ठाः धीराः जनाः।**

२९. **विदथेषु**–'**विद्-ज्ञाने**' धातु से अथः प्रत्यय। "**विदथानि वेदनानि**" [नि० ६.७], "**विद्या वेदनेन**" [नि० ३.१२], "**विदथेषु यज्ञेषु**" [नि० ८.१२]।

और (चेतः) चेतना का आधार या चेतानेहारा है (च) और (धृतिः) धैर्य आदि का साधक है (च) और (यत्) जो (प्रजासु अन्तः) प्राणियों के भीतर (अमृतं ज्योतिः) आत्मा का साथ होने से नाशरहित तथा इन्द्रियार्थों का प्रकाशक होकर स्थित है। (यस्मात् ऋते) जिसके बिना (किंचन कर्म न क्रियते) कोई भी कर्म नहीं किया जाता, (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पम् + अस्तु) शुभ संकल्प—विकल्प अर्थात् शुभ विचारों वाला होवे।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।४।।

[यजु० ३४.४]

अर्थ—(येन) जिस (अमृतेन) नाशरहित मन से (इदं सर्वम्) यह सब (भूतं भुवनं भविष्यत्) भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल में होने वाला व्यवहार (परिगृहीतम्) पकड़ा हुआ है अर्थात् जिससे जाना जाता है, (येन) जिसके द्वारा (सप्तहोता यज्ञः तायते)[३०] सात होताओं से सम्पन्न किया जाने वाला यज्ञ अनुष्ठित किया जाता है, अथवा पांच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा, इन सात साधकों के द्वारा ज्ञान-विज्ञान या शुभ कर्मरूप यज्ञ सम्पन्न किया जाता है (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पम् + अस्तु) शुभ संकल्प-विकल्प = शुभ विचारों वाला होवे।

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।५।

[यजु० ३४.५]

---

३०. **सप्तहोता यज्ञ**—सात होताओं के द्वारा मिलकर सम्पन्न किये जाने वाले बृहद् यज्ञ को 'सप्तहोतृयज्ञ' कहा जाता है। सप्तहोताओं के नाम हैं—होतृ, पोतृ, नेष्टृ, आग्नीध्र, प्रशास्तृ, अध्वर्यु और ब्रह्मा। इनका उल्लेख ऋग्वेद के २.१.२ मन्त्र में हुआ है—
तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः ।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ।। अथवा
"**सप्तहोता = सप्त प्राणा होतार आदातारो यस्य सः**"
[ऋषि द०भा०ऋ० ३.२९.१४] द्र० टिप्पणी संख्या ३९१ भी।

अर्थ–(यस्मिन्) जिस मन में (रथनाभौ इव आराः) जैसे रथ की नाभि = धुरे में आरे लग होते हैं, ऐसे (यस्मिन्) जिसमें (ऋचः साम यजूंषि) ऋक्, साम, यजु त्रयीविद्यारूप ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, ये चार वेद प्रतिष्ठित होते हैं। (यस्मिन्) जिस मन में (प्रजानाम्) प्राणियों की (सर्वम्) सब (चित्रम्) चिन्तन या स्मरण शक्ति (ओतम्) ओत-प्रोत है, संयुक्त है, (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पम् + अस्तु) शुभ संकल्प-विकल्प = शुभ विचारों वाला होवे।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।६।।

[यजु अ० ३४। मं० ६]

अर्थ–(सुषारथिः) जैसे कुशल सारथि (अभीशुभिः) लगाम की रस्सियों से (वाजिनः अश्वान्) वेगवान घोड़ों को इच्छानुसार चलाता है और वश में रखता है, (इव) उसी प्रकार (यत्) यह मन भी (मनुष्यान् नेनीयते) मनुष्य आदि प्राणियों को अपनी शक्तियों से पुनः पुनः इधर-उधर ले जाता है। (यत्) जो यह हृदय में स्थित है और (अजिरम्) जीर्ण न होने वाला है, (जविष्ठम्) अत्यन्त वेगवान् है (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पम् + अस्तु) शुभ संकल्प-विकल्प = शुभ विचारों वाला होवे।

अर्थचिन्तनपूर्वक इनका उच्चारण करने के उपरान्त परस्पर 'नमस्ते' से सबका अभिवादन करें और फिर शयन करें। प्रातः ब्राह्ममुहूर्त अर्थात् चार बजे जागरण करके अगले दिन की दिनचर्या का प्रारम्भ करें।

(ई) अन्य कृत्यों के मन्त्र

यज्ञोपवीत धारण करने का मन्त्र

विधि–प्रथम बार यज्ञोपवीत धारण करना हो अथवा परिवर्तित करना हो, तब निम्न मन्त्र का उच्चारण कर यज्ञोपवीत को सिर की ओर से पहनते हुए बायें कन्धे के ऊपर से तथा दायें हाथ के नीचे बगल में धारण करें। यज्ञोपवीत कटि तक होना चाहिये–

ओं यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्रयं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ।।
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि ।।

[पार० गृ० २.२.११]

अर्थात्—(यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्) यज्ञोपवीत एक अत्यन्त पवित्र सूत्र है (यत् पुरस्तात् प्रजापतेः सहजम्) जो सृष्टि के आदि में प्रजापति के साथ ही उत्पन्न हुआ है अर्थात् यह एक वैदिक कृत्य के रूप में सृष्टि के आदि से ही प्रचलित है। यह यज्ञोपवीत हमें (अग्रयम् आयुष्यम्) दीर्घायु को (शुभ्रम्) उज्ज्वल चरित्र को (प्रतिमुञ्च) प्रदान करे, और (बलं तेजः अस्तु) शक्ति एवं तेज को प्राप्त कराये अर्थात् इसको धारण करने के उपरान्त हम इन विशेषताओं से युक्त बनें (यज्ञोपवीतम् असि) यह उपवीत यज्ञ में धारण करने योग्य है (यज्ञस्य त्वा) इसलिए इसको मैं यज्ञानुष्ठान तथा श्रेष्ठ कर्मों को करने के लिए धारण करता हूँ (यज्ञोपवीतेन उपनह्यामि) मैं यज्ञोपवीत के साथ-साथ उसके गुणों से स्वयं को आवृत करता हूँ।

ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्या–उपासना) विधि-

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च।। [मनु० ४.९४]

—ऋषियों ने दीर्घसन्ध्या करके लम्बी आयु, मेधा बुद्धि, यश, प्रसिद्धि और ब्रह्मतेज को प्राप्त किया है।

सन्ध्या से पूर्व ज्ञातव्य बातें
(संक्षेप से)[31]

ब्रह्मयज्ञ– सन्ध्या–उपासना और स्वाध्याय का नाम ब्रह्मयज्ञ है। प्रतिदिन सन्ध्या–अग्निहोत्र करने के उपरान्त वेदादि मोक्षसाधक ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिये।

***सन्ध्या का अर्थ*–''*सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या*''** [पं० म० विधि] = भलीभांति ध्यान करते हैं, अथवा ध्यान किया जाये परमेश्वर का जिसमें, वह क्रिया 'सन्ध्या' है।

उपासना–''जिसको करके ईश्वर ही के आनन्दस्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना होता है; उसको उपासना कहते हैं।'' [आ०र०]

सन्ध्या का प्रयोजन–हमें मानवजन्म देने वाले और सृष्टि को रचकर हमें सुख देने वाले और हमारा उपकार करने वाले परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करना। उसके स्मरण से जीवन को धार्मिक,

३१. इन सभी विषयों पर विस्तृत, प्रमाणयुक्त विवेचन मेरी बृहत् पुस्तक 'वैदिक नित्यकर्म एवं पञ्चमहायज्ञ मीमांसा' में देखें।

सुखी-समृद्ध, परोपकारी बनाकर आत्मोन्नति करना। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि करना।

सन्ध्या का लाभ—सुख-शान्ति, आध्यात्मिकता की प्राप्ति व प्रसार। उससे उत्तम व सुन्दर परिवार, समाज एवं राष्ट्र का निर्माण। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि। दीर्घसन्ध्या से दीर्घायु, यश, बुद्धि कीर्ति और ब्रह्मतेज की प्राप्ति।

सन्ध्या का काल—सायं प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में दोनों समय प्रतिदिन। प्रातः ब्राह्ममुहूर्त से सूर्योदय पर्यन्त, सायंकाल सूर्यास्त से तारादर्शन तक। दोनों काल का भोजन सन्ध्या के उपरान्त ही करें। प्रातःसन्ध्या यज्ञ से पूर्व और सायंकालीन यज्ञ के उपरान्त करें।

सन्ध्या कौन करें—आबालवृद्ध नर-नारी सभी को परमेश्वर की उपासना करने का अधिकार है।

सन्ध्या के वस्त्र—स्वच्छ, पवित्र एवं सादगीपूर्ण। सुविधापूर्ण एवं ऋतु-अनुकूल। सफेद वस्त्रों की परम्परा अधिक है, क्योंकि उनमें स्वच्छता, पवित्रता और सादगी रहती है। मलीनता शीघ्र दृष्टिगोचर हो जाती है।

सन्ध्या का स्थान—शुद्ध-पवित्र, शान्त-एकान्त-प्रदेश, जहां एकाग्रता हो सके। अथवा घर या नगर आदि में निर्मित उपासनालय।

सन्ध्या का आसन—स्वच्छ-पवित्र और सुखद आसन, जिस पर देर तक व्यवधानरहित होकर बैठा जा सके। यह कुश, ऊन, कपास, रेशम व मृगचर्म आदि का हो सकता है।

सन्ध्या में आसन—पद्मासन या सिद्धासन में बैठें, शरीर झुका न हो, सीधा हो। दोनों आंखें बन्द रखकर मुख सामने की ओर हो। हाथों की दोनों हथेलियों या करपृष्ठ को या तो पैरों के घुटनों पर रखें अथवा हथेली पर हथेली रखकर ठीक नाभि के नीचे जमा लेना चाहिये, या दोनों घुटनों के मध्य में सामने रख लेना चाहिये,

सन्ध्या में मुखदिशा—जिधर से शुद्ध वायु आ रही हो, उधर मुख करें। किसी दिशा-विशेष का बन्धन नहीं है।

सन्ध्या का प्रकार—स्नानादि से शरीर की शुद्धि करके सन्ध्या के लिए आसन ग्रहण करने के पश्चात् मन को शान्त और एकाग्र करें। इस प्रकार सन्ध्या के लिए उपयुक्त मनोभूमि बनायें, पुनः सन्ध्या आरम्भ करें। सत्य मन-वचन-कर्म से श्रद्धापूर्वक सन्ध्या के अनुष्ठानों को सम्पन्न करें।

मन्त्रों का जप या उच्चारण करते हुए अर्थविचारपूर्वक परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना ध्यान लगाकर करें। मन और आत्मा को परमात्मा के ध्यान में स्थिर करें तथा सन्ध्योक्त भावों को आचरण में लाकर जीवन को तदनुकूल बनायें।

सन्ध्यापूर्व तैयारी

शरीरशुद्धि और आसन ग्रहण करना

पूर्ववर्णित दिनचर्या के अनुसार स्नान आदि से शरीर की बाह्य शुद्धि करने के उपरान्त, शुद्ध-स्वच्छ वस्त्र धारण करके, उत्तम आसन पर पद्मासन या सुखासन से बैठें।

अन्तःकरण की शुद्धि

राग, द्वेष, सत्य, चिन्ता, शोक आदि भावों का त्याग करके अन्तःकरण की शुद्धि करें। मन को शान्त और एकाग्र करें, क्योंकि इनके बिना सन्ध्या में ध्यान नहीं लग सकता। महर्षि दयाननद लिखते हैं कि शरीर शुद्धि की अपेक्षा अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक एवं प्रमुख है।[३२] यही सर्वोत्तम और परमेश्वर की प्राप्ति का साधन है। जल से तो शरीर के ऊपरी अंग ही शुद्ध होते हैं, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए तो सत्याचरण, ज्ञान, तप आदि का अनुष्ठान करना चाहिये। महर्षि मनु ने कहा है—

३२. **बाह्य और आन्तरिक शुद्धि**—सन्ध्योपासन जैसे पवित्र अनुष्ठान के लिए शरीर और मन से शुद्ध होना आवश्यक है; किन्तु इनमें अन्तःशुद्धि अनिवार्य है, क्योंकि यह सन्ध्योपासन का प्रमुख आधार है। इससे यह ज्ञात होता है कि किसी विवशता, आपत्ति आदि के कारण यदि बाह्य स्नान आदि क्रियाएं न की जा सकें, तो भी सन्ध्योपासन अवश्य करना चाहिये। इसका त्याग नहीं होना चाहिये, क्योंकि सन्ध्योपासन साध्य कर्म है। यह अपवादस्वरूप आपत्कालीन छूट है।

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति।।

[मनु० ५.१०९]

अर्थात्—'जल से केवल शरीर के अंगों की शुद्धि होती है। मन सत्याचरण से शुद्ध होता है। आत्मा विद्याभ्यास एवं योगाभ्यास से शुद्ध होती है तथा बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।'

मार्जन

मन को शान्त और एकाग्र करने के उपरान्त कुशा वा हाथ से मार्जन करे= अंगों पर पानी के छींटे दे। इसका प्रयोजन यह है कि "परमेश्वर का ध्यान करते समय किसी प्रकार का आलस्य न आवे। यदि आलस्य न हो, तो न करे।[३३]" [पं० म० विधि, स० प्र० तृ० समु०]। यह बिना मन्त्र के किया जाता है।

मार्जन क्रिया करने का मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी है। इस प्रकार उपासक इस बात से सावधान रहता है कि कहीं आलस्य प्रभावी न हो जाये! सावधानी से आलस्य से बचाव रहता है।

प्राणायाम

मार्जन के पश्चात् प्राणायाम करें। प्राणायाम का प्रयोजन भी मन को एकाग्र, शान्त और सन्ध्या के लिए उपयुक्त बनाना है, जिससे सन्ध्योपासन पूर्ण निष्ठा से हो सके। महर्षि ने लिखा है—"इससे आत्मा और मन की स्थिति सम्पादन करे।" [पं० म० विधि]

प्राणायाम के कई भेद हैं। उनमें प्रथम है—अन्दर के श्वास को बलपूर्वक बाहर निकालकर यथाशक्ति रोकें, फिर धीरे-धीरे भीतर ले जायें और भीतर थोड़ा रोकें। यह एक प्राणायाम हुआ। ऐसे कम से कम तीन प्राणायाम करें और इन्द्रियों को बाह्य विषयों से खींचकर मन को एकाग्र करें।

---

३३. **मार्जन में छूट**—मार्जन आदि बाहरी क्रियाएं आवश्यक होते हुए भी अनिवार्य नहीं है। इनका उद्देश्य विनियोगात्मक विधि द्वारा आलस्य दूर करना है। अतः एव महर्षि ने लिखा है कि "आलस्य न हो, तो न करे।" ऐसा ही आगे आचमन मन्त्र में कहा है। इसका भाव यही है कि उपासना का त्याग नहीं होना चाहिये।

गायत्री द्वारा शिखाबन्धन

इसके अनन्तर गायत्री मन्त्र का उच्चारण करें और तत्पश्चात् शिखाबन्धन करें। शिखाबन्धन क्रिया बाहरी रूप से शिखा को व्यवस्थित रूप से विधिवत् बांधने के लिए है और प्रतीकार्थ रूप में विचारों में बिखरे मन को संयमित करने के लिए है। गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते हुए अर्थ विचारपूर्वक प्रार्थना भी करें। यह संकेत महर्षि के इस वाक्य से मिलता है—"और रक्षा करने का प्रयोजन यह है कि परमेश्वर प्रार्थित होकर सब भले कामों में सदा सब जगह में हमारी रक्षा करे।" [पं० म० विधि सन्ध्योपासन]।

अर्थ सहित गायत्री मन्त्र निम्न है—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।। [यजु० अ० ३६.। मन्त्र ३]

अर्थ—(ओम्)[३४] परमात्मा सबका रक्षक है। परमात्मा का वह मुख्य नाम है, जिसके साथ सभी नाम लग जाते हैं, जिससे ईश्वर के सब नामों का बोध होता है। (भूः) सब प्राण = जीवनस्वरूप, प्राणों से भी प्रिय (भुवः) सब दुःखों से छुड़ाने वाला, (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप है और सबको सब सुखों की प्राप्ति कराने हारा है। (तत्) उस (सवितुः) सकल जगत् के उत्पादक, प्रकाशक परम ऐश्वर्यवान् (वरेण्यम्) कामना करने योग्य, अतिश्रेष्ठ, (भर्गः) शुद्ध, विज्ञानस्वरूप और अज्ञान, दोष क्लेश आदि को भस्म करने वाले (देवस्य) दिव्यगुणों से युक्त, आनन्ददाता परमेश्वर का (धीमहि) हम ध्यान करते हैं, उसको हृदय में धारण करते हैं (यः) जो वह धारण और ध्यान किया हुआ परमेश्वर (नः धियः) हमारी धारणावती बुद्धियों को (प्रचोदयात्) उत्तम गुण, कर्म, स्वभावों में प्रेरित करे।

इस प्रकार इन क्रियाओं के द्वारा, सन्ध्योपासन के लिए मन और आत्मा में उपयुक्त दृढ़भूमि (=वातावरण) बनाकर आचमनपूर्वक सन्ध्योपासन के अनुष्ठान आरम्भ करें—

---

३४. **विस्तृत व्याख्या**—महाव्याहृतियों भूः, भुवः, स्वः की प्रमाणसहित विस्तृत व्याख्या आगे टिप्पणी संख्या ४१ से ४३ में तथा मन्त्र के अन्य पदों की व्याख्या ८०-८३ में द्रष्टव्य है।

आचमन मन्त्र

आचमन विधि—निम्न मन्त्र के उच्चारणपूर्वक, सर्वव्यापक, सुखदाता परमेश्वर का ध्यान करते हुए उससे सुख की कामना-याचना करें और उच्चारण के अनन्तर तीन बार आचमन करें।

आचमन क्रिया—आचमन करने के लिए दाहिनी हथेली में इतना जल लें, जो कण्ठ के नीचे हृदय (छाती) तक पहुँचे ; न उससे कम रहे न अधिक। हथेली के मूल और मध्यभाग में ओष्ठ लगाकर उस जल का पान करें। आचमन करते समय मुंह से किसी प्रकार का शब्द न करें। तीन आचमन करने के बाद अच्छिष्ट हाथ का प्रक्षालन कर लें। आचमन का प्रयोजन कण्ठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति करना है। यदि जल उपलब्ध न हो तो उसके बिना ही उपासना करें।

ओं शन्नो देवीरभिष्टयऽ आपो भवन्तु पीतये ।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ।। [यजु० अ० ३६. । मं० १२ ।।]

अर्थ—(देवीः)[३५] दिव्यगुणों से युक्त, सबका प्रकाशक, सबको आनन्द देने वाला (आपः)[३६] सर्वव्यापक परमेश्वर (अभि + इष्टये) मनोवांछित लौकिक सुख-आनन्द की प्राप्ति के लिए और (पीतये)[३७] पूर्णानन्द = मोक्ष की प्राप्ति के लिए तथा पूर्ण रक्षा के लिए (नः) हम को (शम्) कल्याणकारी (भवन्तु) होवे, और (नः) हम पर (शंयोः)[३८] सुख-शान्ति की (अभि-स्रवन्तु) चारों ओर से वर्षा करे। हम परमपिता परमेश्वर से यह प्रार्थना करते हैं।

---

३५. **'देवीः'**—यह पद 'दिवु' धातु का स्त्रीलिंग में बहुवचनान्त प्रयोग है, जो 'आपः' के विशेषण के रूप में पठित है। इस धातु के 'विजिगिषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गति' ये सभी अर्थ होते हैं। निरुक्तकार ने देव शब्द की निरुक्ति करते हुए इसके निम्न अर्थ किये हैं—

देवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा"

[निरु० ७.१५]

अर्थात्—दान देने से, प्रकाशित होने से, प्रकाशक होने से, द्युस्थान में होने से 'देव' कहाता है। इस प्रकार परमेश्वर के गुणों के अनुसार यहां अनेक अर्थ इस पद से ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु मुख्य अर्थ 'दाता' माना जाना चाहिये, क्योंकि

मन्त्र में सुखों की याचना और कामना की गयी है। उनका दाता दिव्य गुणों से सम्पन्न परमेश्वर ही है। देव का स्त्रीलिंग में प्रथमा बहुवचनान्त रूप 'देवीः' है। इसके भी वही अर्थ हैं।

३६. **आपः**—यह पद नित्यबहुचनान्त स्त्रीलिंग है और "आप्लृव्याप्तौ" धातु से "**आप्नोतेर्ह्रस्वश्च**" [उणादि २.५९] सूत्र से क्विप् प्रत्यय के योग से, अथवा "**आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा**" [उणादि ४.२०८] सूत्र 'असुन्' प्रत्यय के योग से सिद्ध होता है।

'आपः' के अनेक अर्थ होते हैं, जिनमें 'परमात्मा' और 'जल' ये दो प्रमुख अर्थ हैं। यहां सन्ध्या की आचमन-विधि में इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। उपासना का प्रसंग होने से इसका मुख्य अर्थ परमात्मापरक ही ग्रहण किया जायेगा। सर्वव्यापक होने से परमात्मा को 'आपः' कहा गया है। निरुक्त में इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—"**आपः आप्नोतेः**" [निरु० ९.२६]= व्याप्ति गुण वाले को 'आपः' कहते हैं। यजुर्वेद में 'आपः' परमात्मा का नाम बताया है—"**ताः आपः सः प्रजापतिः**" [यजु० ३२.१] अर्थात्—उस परमात्मा को ही 'प्रजापति' और 'आपः' कहते हैं। अथर्ववेद में भी 'आपः' परमात्मा को कहा गया है—"**यत्र लोकांश्च कोषांश्च आपो ब्रह्म जनाः विदुः**" [अथर्व० १०.७.१०] अर्थात्—जिसमें लोक-लोकान्तर और सब जगत् का कारण रूप कोश= खज़ाना असत्, अदृश्यरूप महत्तत्व पंचभूत और सत् प्रकृति आदि पदार्थ स्थित हैं, वही 'आप्' या 'आपः' है, वही 'ब्रह्म' कहाता है।

३७. **पीतये**—प्राप्ति, पान या भोग करना अर्थ वाली "पा-पाने" और रक्षा करना अर्थ वाली "पा-रक्षणे" धातु से क्तिन् प्रत्यय अथवा बाहुलक औणादिक 'तिः' प्रत्यय के योग से "पीतिः" पद बनता है। उसका चतुर्थी एकवचन में "पीतये" रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार इसके दोनों ही अर्थ ग्रहण करने प्रासंगिक हैं।

३८. **शंयोः**—'शम्' से "**कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः**" [अष्टा० ५.२.१३८] सूत्र से 'युस्' प्रत्यय होकर 'शंयुः' पद सिद्ध होता है, जिसका षष्ठी एकवचन में "शंयोः" रूप बना है। 'शम्' का अर्थ है—कल्याण, सुख, शान्ति। निरुक्त में कहा है—"**शम् सुखनाम**" [निघ० ३.६; निरु० ११.३०; १२.४४] अतः इस पद का अर्थ होगा 'सुख-शान्ति या कल्याण की'।

कुछ व्याख्याकारों ने 'शंयोः' पद को 'शम्' और 'योस्' दो पदों का योग मान कर इन्हें पृथक् पृथक् पद दर्शाया है और उसका निरुक्त के अनुसार पृथक्-पृथक् अर्थ यह किया है—

"**शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्**" [निरु० ४.२२]

अर्थात—शम्= रोगों से मुक्ति दिलाना, योस्= भयों से छुटकारा दिलाना।

अंगस्पर्श मन्त्र

अंगस्पर्श विधि—निम्न मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक परमात्मा से शरीरांगों एवं इन्द्रियों की स्वस्थता,दृढ़ता एवं निर्दोषता के लिए प्रार्थना करते हुए मन्त्र वर्णित अंगों का जलयुक्त अंगुलियों से स्पर्श करें।

अंगस्पर्श क्रिया—अंगस्पर्श के लिए, पात्र में से बायीं हथेली में थोड़ा जल लें, फिर दाहिने हाथ की मध्यमा और अनामिका अंगुलियों को मिलाकर उस जल से स्पर्श करें,पुनः उस जल से गीली अंगुलियों से अंगों का स्पर्श करें। प्रत्येक अंग के स्पर्श से पूर्व अंगुलियों का जल से स्पर्श करायें।

मन्त्रों में जहाँ दो समान इन्द्रियों के स्पर्श का उल्लेख है, वहाँ पहले दाहिनी इन्द्रिय का और फिर बाईं इन्द्रिय का स्पर्श करना चाहिये।

ओं वाक् वाक्। इसका उच्चारण करते हुए पहले मुख के दायें भाग का, पश्चात् बायें भाग का स्पर्श करें।

ओं प्राणः प्राणः। इससे दाहिने और बायें नासिका भाग का।

ओं चक्षुः चक्षुः। इससे दाहिने और बायें नेत्र का।

ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्। इससे दाहिने और बायें कान का।

ओं नाभिः। इससे नाभि का।

ओं हृदयम्। इससे हृदय का (हृदय छाती के वाम भाग में स्थित है)।

ओं कण्ठः। इससे कण्ठ का।

ओं शिरः। इससे सिर का=मस्तक का।

ओं बाहुभ्यां यशोबलम्।। इससे दाहिनी और बायीं भुजा का।

ओं करतलकरपृष्ठे।। इससे दोनों हथेलियों और उनके पृष्ठभाग का स्पर्श करें।

ऐसा करना वेद के मूल पाठ के विरुद्ध है। वेद में,मन्त्र पाठ में 'शंयोः' एक पद पठित है, जबकि निरुक्त में जो पृथकं-पृथक् पद मानकर अर्थ दिया गया है, वहाँ उद्धृत मन्त्र के मूल पाठ में पृथक्-पृथक् दो पद पठित हैं। अतः उस मन्त्र के मूलपाठ को और इस मन्त्र के पाठ को एक नहीं माना जा सकता। महर्षि दयानन्द ने भी एक पद मानकर अर्थ किया है।

अर्थ–(ओम्) हे ईश्वर! मेरी (वाक्)[३९] वाग् इन्द्रिय = वाणी, और (वाक्) रसना इन्द्रिय, पूर्ण आयु पर्यन्त स्वस्थ, बलवती एवं निर्दोष बनी रहें।

(ओम्) हे ईश्वर! मेरी (प्राणः) प्राण शक्ति, जो कि प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, देवदत्त, कृकल, धनंजय नामक दश प्राणों के रूप में समस्त शरीर में व्याप्त होकर जीवन को चला रही है, वह और (प्राणः) घ्राणेन्द्रिय, पूर्ण आयु पर्यन्त स्वस्थ, बलवती एवं निर्दोष बनी रहें।

(ओम्) हे ईश्वर! मेरे (चक्षुः चक्षुः) दायें और बायें दोनों नेत्र स्वस्थ, बलवान् एवं निर्दोष बने रहें।

---

३९. **'वाक्'**–मन्त्र में शरीर की प्राकृतिक रचना के आधार पर यथार्थ वर्णन किया गया है किन्तु कुछ व्याख्याकारों का ध्यान उसकी ओर नहीं गया, अतः उन्होंने इसके कुछ भागों का अर्थ स्वतः कल्पित कर लिया है। मन्त्र में जहां-जहां किसी इन्द्रिय का दो बार पाठ है, वहां उन्होंने "सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रिय" अथवा "इन्द्रिय और उसकी सूक्ष्म शक्ति बलवती, स्वस्थ रहे" आदि अर्थ किया है।

मन्त्र में इतनी स्पष्टता है कि मन्त्रार्थ के साथ खींचातानी करने की कोई आवश्यकता नहीं है, और फिर इस प्रकार का अर्थ करने से कई आपत्तियां भी उपस्थित होती हैं, यथा–१. इन्द्रिय कहने से सम्पूर्ण (सूक्ष्म और स्थूल) इन्द्रिय का स्वतः ग्रहण होता है। अतः एव सभी शास्त्रों में बिना सूक्ष्म-स्थूल के भेद केवल नाम से ही इनकी गणना की है। २. यदि इन इन्द्रियों में स्थूल इन्द्रिय और उसकी सूक्ष्म शक्ति का भेद करेंगे तो हृदय आदि में ऐसा ही करना चाहिए। फिर वहां क्यों नहीं किया गया? और मन्त्र में उनकी सूक्ष्मशक्ति की बलवत्ता के लिए इन अंगों का दो बार पाठ क्यों नहीं किया गया? ३. इस प्रकार अर्थ करने से संयुक्त इन्द्रियों में से एक-एक इन्द्रिय छूट जाती है और उन वाक्यों का अर्थवैशिष्ट्य नष्ट हो जाता है।

वस्तुतः यहाँ उन्हीं इन्द्रियों का दो बार पाठ है जो, या तो संयुक्त रूप से दो इन्द्रिय हैं, या जो रचना की दृष्टि से प्रत्यक्ष रूप से दो भागों में विभक्त हैं। जैसे–जिह्वा में वाणी कर्मेन्द्रिय है और रसना घ्राणेन्द्रिय। इस प्रकार दो बार पाठ यहां दोनों इन्द्रियों के ग्रहण करने के लिए है। घ्राण-इन्द्रिय में प्राणशक्ति और घ्राणशक्ति दोनों का समावेश है। नासिका दो भागों में विभक्त होने के साथ-साथ घ्राण शक्ति को ग्रहण करने के कारण ज्ञानेन्द्रिय है और श्वास-प्रश्वास के द्वारा प्राणवाहिनी भी है। इसी प्रकार कान और नेत्र भी दो-दो भागों में विभक्त हैं।

(ओम्) हे ईश्वर! मेरे (श्रोत्रम् श्रोत्रम्) दायें और बायें दोनों कान पूर्ण आयु पर्यन्त स्वस्थ, बलवान् एवं निर्दोष बने रहें।

(ओम्) हे ईश्वर! मेरी (नाभिः) शरीर और नस-नाड़ियों का केन्द्र स्थान नाभि पूर्ण आयु पर्यन्त स्वस्थ, बलवती, एवं निर्दोष बनी रहे।

(ओम्) हे ईश्वर! मेरा (हृदयम)[४०] रक्त संचालक अंग हृदय पूर्ण आयु पर्यन्त स्वस्थ, बलवान् एवं निर्दोष बना रहे और मेरा हृदय= आत्मा बलवान् एवं निर्दोष बना रहे।

(ओम्) हे ईश्वर! (कण्ठः) मेरा कण्ठ पूर्ण आयु पर्यन्त स्वस्थ, बलवान् एवं दोषरहित बना रहे।

(ओम्) हे ईश्वर! मेरा (शिरः) मस्तिष्क एवं उसका निवास स्थान पूर्ण आयु पर्यन्त स्वस्थ, बलवान् एवं निर्दोष बना रहे।

(ओम्) हे ईश्वर! मैं (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं से (यशः—बलम्) यश और बल प्राप्त करूं अर्थात् दोनों भुजाएं पूर्ण आयु पर्यन्त स्वस्थ, बलवती एवं निर्दोष बनी रहें, जिनसे मुझे यश और बल की प्राप्ति होती रहे।

(ओम्) हे ईश्वर! मेरे (करतल—करपृष्ठे) हाथ के तल और हाथ के पृष्ठभाग पूर्ण आयु पर्यन्त स्वस्थ, बलवान् एवं निर्दोष बने रहें, जिनसे मुझे यश और बल प्राप्त होता रहे।

---

४०. **हृदयम्**—हृदय, वक्ष के वाम भाग में स्थित वह अंग है, जो सम्पूर्ण शरीर में रक्त-संचार करता है। अशुद्ध रक्त को सम्पूर्ण शरीर से ग्रहण करता है और फेफड़ों में शुद्ध होने के अनन्तर पुनः उसे सम्पूर्ण शरीर में प्रेषित करता है। शास्त्रों में इसी अंग को आत्मा का अधिष्ठान माना गया है, अतः हृदय से दिल और आत्मा दोनों अर्थ ग्रहण होते हैं, यथा—"**हृदयेन = स्व आत्मना**" "**हृदे = आत्मशुद्धये**" [यजु०भाष्य स्वामीदयानन्द १९.८५; ३७.१९] "आत्मा वै मनो हृदयम्" [शत० ३.८.३.८] "हृदयेन अभ्यनुज्ञातः यो धर्मः" [मनु० २.१] = 'जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से जाना और माना है, उस धर्म को सुनो।'

यहाँ भी दोनों अर्थग्रहण किये जाने चाहियें। इससे अर्थ में पूर्णता और विशेषता आ जाती है। प्रायः व्याख्याकारों का ध्यान इस अर्थवैशिष्ट्य की ओर नहीं गया है।

मार्जन मन्त्र

मार्जन विधि—निम्न मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक ईश्वर से शरीरांगों की स्वस्थता, बलवत्ता और निर्दोषता की प्रार्थना करते हुए अंगुलियों से उन अंगों पर जल का मार्जन करें= जल छिड़कें= छींटे दें।

मार्जन क्रिया—मार्जन के लिए, पात्र में से बायें हाथ की हथेली में थोड़ा जल लें, फिर दायें हाथ की मध्यमा और अनामिका अंगुलियों को मिलाकर उनके अग्रभाग को उस जल से स्पर्श कराके, दायें हाथ के अंगूठे की सहायता से अंगों पर मार्जन करें= जल के छीटें दें।

ओं भूः पुनातु शिरसि। इसके उच्चारणपूर्वक शिर पर मार्जन करें।

ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः। इससे पहले दायें, फिर बायें नेत्र पर।

ओं स्वः पुनातु कण्ठे। इससे कण्ठ पर।

ओं महः पुनातु हृदये। इससे हृदय पर।

ओं जनः पुनातु नाभ्याम्। इससे नाभि पर।

ओं तपः पुनातु पादयोः। इससे पहले दायें, फिर बायें पैर पर।

ओं सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि। इससे पुनः शिर पर।

ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र। इससे सारे शरीर पर।

अर्थ—(ओम् भूः)[४१] सदा-सर्वदा वर्तमान रहने वाला प्राण-रूप प्रभु (शिरसि पुनातु) मेरे शिर में पवित्रता करे अर्थात् शिर में स्थित बुद्धि को पवित्र रखे। उससे मैं पवित्र चिन्तन एवं निर्णय करूँ।

---

४१. "**भूः**"—मन्त्रों में पठित भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, ब्रह्म, ये पद पृथक् पृथक् गुण और विशेषता को प्रकट करने वाले हैं, जो ईश्वर के नाम ही हैं। शतपथ में कहा है—"**भूः इति प्रजापतिः, इमामजनयत**" [शत० २.१.४.११]= 'भूः' यह प्रजापति परमात्मा का नाम है, उसने इस सृष्टि को रचा है। यह पद 'भू-सत्तायाम्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय लगाकर सिद्ध होता है, जिसका अभिप्राय है—जो सत्स्वरूप है, जो सदा-सर्वदा वर्तमान रहता है। "**भूः इति वै प्राणः, यः प्राणयति जीवयति सर्वान् प्राणिनः सः प्राणः प्राणादपि प्रियस्वरूपो वा**" [पं०म०वि०]= भूः प्राण को कहते हैं, जो प्राणस्वरूप होने के कारण सबको जीवित रखने का हेतु है, और जो प्राणों से भी प्रिय है। वह मेरे मस्तिष्क को पवित्र करे।

(ओम् भुवः)[४२] सबका आश्रयस्थान और सबके दुःखों को दूर करने वाला ईश्वर (नेत्रयोः पुनातु) मेरे दोनों नेत्रों में पवित्रता करे अर्थात् मेरी दृष्टि को पवित्ररखे।

(ओम् स्वः)[४३] आनन्दस्वरूप और सबको आनन्द देने वाला परमात्मा (कण्ठे) मेरे कण्ठ में (पुनातु) पवित्रता करे अर्थात् मैं सत्य और पवित्र भाषण करूँ।

(ओम् महः)[४४] सबसे महान् और सबसे अधिक पूज्य परमात्मा (हृदये पुनातु) मेरे हृदय में पवित्रता करे अर्थात् मेरा हृदय और मेरी आत्मा पवित्र एवं उदार बनें, महान् बनें।

(ओम् जनः)[४५] सबका उत्पादक परमात्मा (नाभ्याम् पुनातु) मेरी नाभि में पवित्रता करे अर्थात् मेरे जनन-संस्थान में पवित्रता बनी रहे।

---

४२. "**भुवः**"—यह पद भी 'भू-सत्तायाम्' धातु से 'कित्' [उणा० ४.२१७] प्रत्यय के योग से सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है—"**भवन्ति यस्मिन् इति**" = अर्थात् जिसके आश्रय में सभी जड़-चेतन पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जो सबका आश्रय या अधिष्ठान है, अथवा "**भुवः इति अपानः, यः सर्वं दुःखमपनयति सो अपानः**" [पं०म०वि०] = 'भुवः' अपान को कहते हैं, जो सब दुःखों को दूर करता है, वह परमात्मा 'भुवः' संज्ञक है।

४३. "**स्वः**"—'स्वः' सुख का नाम है। सुख-आनन्द से युक्त होने के कारण परमात्मा आनन्दस्वरूप है। आनन्दस्वरूप होने से वह आनन्द का दाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है—"**स्वरिति व्यानः**" [७.५] "स्वः" व्यान को कहते हैं। "**यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः परमेश्वरः**" [स०प्र०] = जो नानाविध जगत् में व्याप्त होकर सबको धारण रखता है, इस कारण परमेश्वर का नाम 'व्यान' और 'स्वः' है।

४४. "**महः**"—पूजार्थक 'मह्' धातु से 'असुन्' प्रत्यय [उणा० ४.१८९] लगकर 'महः' पद बनता है, जिसका अर्थ 'पूज्य' है। निघण्टु में कहा है—"**महः महन्नाम**" [३.३] = महान् को महः कहते हैं। ईश्वर सबसे महान् होने के कारण 'महः' कहलाता है। उसी महान् परमात्मा से आत्मा के महान् बनाने और हृदय के उदार होने की याचना की गयी है।

४५. "**जनः**"—'जनी-प्रादुर्भावे' धातु से 'जनः' शब्द सिद्ध होता है। सबका उत्पादक होनें से परमेश्वर का नाम "जनः" है। नाभि जनन-संस्थान का उपलक्षक है। नाभि के द्वारा ही बालक को माता के गर्भ में आहार एवं रक्त प्राप्त होता है। उसी से जीवन मिलता है।

(ओम् तपः)[४६] तपस्वरूप, दुष्टों को सन्तप्त एवं दोषों का विनाशक परमात्मा (पादयोः पुनातु) मेरे दोनों पैरों में पवित्रता करे अर्थात् मेरा चाल-चलन = आचरण पवित्र रहे।

(ओम सत्यम्)[४७] सत्यस्वरूप और सत्याचरणप्रेरक अविनाशी परमात्मा (पुनः) फिर = बार-बार (शिरसि पुनातु) मेरे शिर = बुद्धि में पवित्रता करे अर्थात् मेरी बुद्धि को विशेष रूप से और सदैव पवित्र रखे, क्योंकि बुद्धि की पवित्रता से सभी इन्द्रियों की पवित्रता बनी रहती है।

(ओम् खं ब्रह्म)[४८] सर्वव्यापक, सर्वाधिक शक्तिशाली परमात्मा (सर्वत्र पुनातु) मेरे सम्पूर्ण शरीर को या सब अंग-प्रत्यंगों में पवित्रता करे, उनमें पवित्रता बनाये रखे।।[४९]

---

४६. "**तपः**"—'तप-सन्तापे' धातु से 'असुन्' [उणा० ४.१८९] प्रत्यय होकर 'तपः' शब्द सिद्ध होता है, जिससे अर्थ निकलता है—'वह परमात्मा दुष्टों को सन्तप्त करने वाला है', अतः उसका नाम 'तपः' है।

'तप-ऐश्वर्ये' धातु से 'असुन्' प्रत्यय के योग से सिद्ध 'तपः' पद का अभिप्रायः है—'वह ईश्वर तपस्वरूप है, ऐश्वर्य, सामर्थ्य आदि से सम्पन्न है।'

'तप-दाहे' धातु से 'असुन्' प्रत्यय के योग से सिद्ध 'तपः' पद का अर्थ है—'वह परमात्मा दुष्ट भावनाओं का विनाशक है, दुष्ट चाल-चलन को दूर करने वाला है।' इस प्रकार 'तपः' के तीनों अर्थ हैं।

४७. "**सत्यम्**"—'अस्-भुवि' धातु से शतृ प्रत्यय लगकर 'सत्' पद बनता है। 'सत्' से 'यत्' प्रत्यय के योग से 'सत्य' शब्द सिद्ध होता है। जो सत्-रूप है, या जो सत्यस्वरूप है, या जो श्रेष्ठ लोगों द्वारा उपासनीय है, वह सत्य-वाचक परमेश्वर है। शतपथ में कहा है—

"**सत्यं ब्रह्म**" [शत० १४.८.५.१] = सत्य ब्रह्म का नाम है।

४८. "**खं ब्रह्म**"—खंम् का अर्थ है—आकाश, "खं ब्रह्म" का अर्थ है—'आकाश के समान सर्वव्यापक परमात्मा।' वृहि-वृद्धौ' धातु से "**बृहेर्नोऽच्च**" [उणादि० ४.१४६] सूत्र से मनिन् प्रत्यय होकर 'ब्रह्म' शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है—'प्रत्येक दृष्टि से जो सबसे बढ़-चढ़कर है, सर्वाधिक शक्तिशाली है, वह परमात्मा।' ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है—"**ब्रह्म वै भूतानाम् ज्येष्ठम्**" [तै० ब्रा० २.८.८.१०] = ब्रह्म प्राणियों में सबसे महान् है। "**ब्रह्मैव देवानां श्रेष्ठमिति**" [शत० ८.४.१.३] = ब्रह्म ही सब देवों में श्रेष्ठ देव है। "**कतम एको देव इति? स ब्रह्म इत्याचक्षते**" [१४.६.९.१०] = वह एक देव कौन सा है? वह ब्रह्म संज्ञक परमेश्वर ही है, ऐसा कहते हैं।

प्राणायाम मन्त्र

प्राणायाम विधि—निम्न मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक ईश्वर के नामों का ध्यान करें और उच्चारण के पश्चात् प्राणायाम करें। प्राणायाम करते समय भी इस मन्त्र को अर्थविचारपूर्वक मन में जपते रहें।

प्राणायाम क्रिया—प्राण = श्वास के नियन्त्रण और विस्तार करने की क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। भीतर के वायु को नासिका से वेगपूर्वक बाहर निकालकर श्वास को यथाशक्ति वहीं रोकें, फिर धीरे-धीरे अन्दर ग्रहण करके वैसे ही फिर बाहर निकालें और रोकें। यह 'रेचक' या 'बाह्य विषय' नामक प्राणायाम है।

इसी प्रकार श्वास को अन्दर ग्रहण करके उसे अन्दर ही यथाशक्ति रोकें। फिर धीरे-धीरे बाहर निकालकर वैसे ही पुनः अन्दर लेकर रोकें। यह 'आभ्यन्तर' या कुम्भ' प्राणायाम है।

---

४९. इस मन्त्र में मस्तिष्क की पवित्रता पर विशेष बल देने हेतु दो बार प्रार्थना की है। शरीर शास्त्र के अनुसार, मस्तिष्क जीवित रहने का प्रमुख आधार है। जब तक मस्तिष्क जीवित रहता है तभी तक प्राणी जीवित रहता है। मस्तिष्क के मरने पर प्राणी जीवित नहीं रह सकता। अन्य शरीरांग मरकर पुनः जीवित हो सकते हैं किन्तु मस्तिष्क एक बार मर जाने पर जीवित नहीं होता। इसी प्रकार मस्तिष्क के विकृत होने पर मनुष्य पागल हो जाता है। मस्तिष्क = बुद्धि के अच्छे-बुरे निर्णयों के अनुसार ही मनुष्य आचरण करता है। इस प्रकार मस्तिष्क = बुद्धि संस्थान का जीवन में प्रमुख स्थान है। इसी कारण से मन्त्र में 'शिर में पवित्रता करने' पर दो बार प्रार्थना करके विशेष बल दिया गया है।

मन्त्र में सभी पदों में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है, जो विशेष अभिप्राय को इंगित करता है। सप्तमी का प्रयोग अधिकरण अर्थ में होता है, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि 'ये अंग जिनके अधिष्ठान हैं, उन पदार्थों या कर्मों में प्रभु पवित्रता करे।' जैसे—बुद्धि का अधिष्ठान शिर है, अतः सप्तमी विभक्ति के प्रयोग से बुद्धि की पवित्रता की याचना है। इसी प्रकार पैर आदि में पवित्रता की याचना से अभिप्राय उनके द्वारा सम्पाद्य कर्मों से है। सप्तमी विभक्ति के प्रयोग से यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि यहाँ बाह्य पवित्रता पर बल न हो कर आन्तरिक पवित्रता पर है। यह सही भी है, क्योंकि यह उपासना का प्रसंग है। उपासना आन्तरिक शुद्धि के लिए ही होती है। बाह्य शुद्धि रूप कर्म तो उपासना से पूर्व सम्पन्न हो चुका होता है। इन युक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिन व्याख्याकारों ने 'शिर पर', 'कण्ठ पर' आदि अर्थ किया है, वह सही नहीं है।

चलते हुए श्वास को जहाँ की तहाँ रोक देना और यथाशक्ति उसे रोके रखना, यह 'स्तम्भवृत्ति' नामक प्राणायाम है।

इनमें से किसी भी एक प्राणायाम या तीनों को करें। कम से कम तीन प्राणायाम करें और अधिक यथाशक्ति करें। इस प्रकार आत्मा के स्थिर करके उसमें परमेश्वर का ध्यान करें और उसमें मन को मग्न करें।

ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम्।

[तै० प्र० १०. । अनु० २७।।]

अर्थ—(ओम् भूः) हे ईश्वर! आप सदा-सर्वदा विद्यमान रहने वाले हैं, सत् हैं, प्राणरूप एवं प्राणों से भी प्रिय हैं।

(ओम् भुवः) हे ईश्वर! आप सबके आश्रय हैं और सबके दुःखों को दूर करने वाले हैं।

(ओम् स्वः) हे ईश्वर! आप सुखस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप हैं। आप ही इस जगत् के धारणकर्त्ता हैं।

(ओम् महः) हे ईश्वर! आप सबसे महान् हैं, सबके पूज्य हैं, एकमात्र उपासनीय हैं। महामहिमशाली हैं।

(ओम् जनः) हे ईश्वर! आप ही सकल जगत् के उत्पादक हैं। सबको जीवन देने वाले हैं।

(ओम् तपः) हे ईश्वर! आप तपस्वरूप हैं। दुष्टों के सन्तापक एवं दुष्ट भावनाओं के विनाशक हैं। समस्त ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं।

(ओम् सत्यम्) हे ईश्वर! आप सत्यस्वरूप हैं, अविनाशी हैं। श्रेष्ठों के द्वारा उपासनीय एवं वन्दनीय हैं। सत्याचरण के प्रेरक हैं। (मैं इन गुणों से युक्त ईश्वर की उपासना करता हूँ और उसकी प्रेरणा से समस्त दोषों का परित्याग करता हूँ।[५०]

अघमर्षण मन्त्र

निम्न मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक परमेश्वर को सृष्टिकर्त्ता,

---

५०. मन्त्रार्थ में प्रमाण, पूर्वमन्त्र के टिप्पणी भाग संख्या ४१-४३ में देखिए।

सृष्टिनियन्ता, सृष्टिहर्त्ता, सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वत्र-सर्वदा सब जीवों के कर्मों का द्रष्टा मानकर, उसके इस स्वरूप का चिन्तन करते हुए पाप की ओर से अपने मन और आत्मा को हटायें तथा उधर न जाने दें। इनका चिन्तन करते हुए रात्रि-अवधि में किये गये अघों = पापों या दोषों का प्रातःकाल, तथा दिन में किये अघों का सायंकाल मर्षण = दूरीकरण करें—

ओ३म् ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।

ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ।। [ऋग० १०.१९०.१]

अर्थ—परमात्मा के (अभि + इद्धात्) सब ओर प्रदीप्त ज्ञानमय (तपसः) अनन्त सामर्थ्य से (ऋतम्)[५१] सबके द्वारा प्राप्त करने योग्य यथार्थ = सत्यज्ञान अर्थात् ऋक्, यजु, साम और अर्थववेद के रूप में प्राप्त ज्ञान का भण्डार (च) और (सत्यम्)[५२] सत्-रज-तम रूप प्रकृति और उसका कार्यरूप समस्त चर-अचर जगत् (अधि + अजायत) पूर्वकल्प के समान उत्पन्न हुआ। (ततः) उसी ईश्वर के सामर्थ्य से (रात्री)[५३] महाप्रलयरूप रात्रि (अजायत) उत्पन्न हुई (ततः) उसके पश्चात् (समुद्र + अर्णवः)[५४] अन्तरिक्ष और पृथिवीस्थ समुद्र उत्पन्न हुआ अर्थात् अन्तरिक्ष से लेकर पृथिवी तक विद्यमान समस्त स्थूल पदार्थ बने।

---

५१. **ऋतम्**—'ऋतम्' का अर्थ 'सत्यज्ञान' है। भारतीय वाङ्मय के अनुसार, ईश्वरप्रदत्त होने से वेदज्ञान सत्यज्ञान है, अतः इस पद से चारों वेदों का ग्रहण होता है। यह शब्द 'ऋृ-गतिप्रापणयोः' धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से सिद्ध होता है। गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। इस प्रकार इसका अर्थ 'प्राप्तव्य सत्यज्ञान' होता है। वैदिक ग्रन्थों में कहा है—"**ऋतंसत्यनाम**" [निघ० ३.१०] "**सत्यं वा ऋतम्**" [शत० ७.३.१.२३; तै०ब्रा० ३.८.३.४]।

५२. 'सत्' से यत् प्रत्यय के योग से 'सत्य' पद बनता है। ऋ० १०.१२९.१ में 'सत्' कार्यरूप प्रकृति का ग्रहण किया गया है—"**नासदासीत् नो सद् आसीत् तदानीम्।**" अन्यत्र भी इस अर्थविषयक प्रमाण मिलते हैं, यथा—"**प्रकृतिं सत्यम् इत्याहुः विकारोऽनृतमुच्यते।**" [वायु पु० ४ उप० पाद १०२.१०७]।

५३. **रात्रिः**—आलंकारिक शब्दावली में महाप्रलयकाल को परमात्मा की रात्रि कहा है और सृष्टिकाल को दिन। क्योंकि महाप्रलयकाल में प्रकृति अपने कारण में लीन हो जाती है और परमात्मा सृष्टि संचालन कार्य से विरत रहता है। मनुस्मृति में कहा है—

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।। [ऋ० १०.१९०.२]

अर्थ—समुद्रात् + अर्णवात् + अधि) अन्तरिक्ष से लेकर पृथिवीस्थ समस्त पदार्थों के पश्चात् (संवत्सरः)[५५] क्षण, मुहूर्त, प्रहर, मास, वर्ष आदि काल (अजायत) उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् (विश्वस्य वशी) संसार को वश में रखने वाले उस परमात्मा ने (मिषतः) सहज रूप से (अहः—रात्राणि) दिन और रात्रि के विभागों को (विदधत्) बनाया।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।। [ऋ० मं० १०।सू० १९०।मं ३]

अर्थ—(धाता) जगत् को उत्पन्न कर धारण, पोषण, नियमन करने वाले परमात्मा ने (सूर्य-चन्द्रमसौ) सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रहों-उपग्रहों को (च) और (दिवम्) द्युलोक (पृथिवीम्) पृथिवी लोक (च) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष आदि लोकों को (अथ स्वः) तथा ब्रह्माण्ड में जितने अन्य

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।
रात्रिं च तावतीमेव ते अहोरात्रविदो जनाः।। [१. ७३]

अर्थात्—एक हजार दिव्य युगों अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़ मानुष वर्षों के काल को ब्रह्म = परमात्मा का एक दिन कहते हैं, जिसमें सृष्टि वर्तमान रहती है और इतने ही वर्ष प्रलय रहती है, जो परमात्मा की रात्रि कहलाती है। इसके पश्चात् पुनः सृष्टि बनती है।

५४. **समुद्रः**—व्यवहार में समुद्र और अर्णव शब्द सागर के लिए प्रयुक्त होते हैं। वैदिक साहित्य में समुद्र सागर का वाचक भी है और आकाश का भी। अर्णव सागर का वाचक है। इस प्रकार यहां दोनों शब्दों को समानार्थक या विशेषण-विशेष्य न मानकर भिन्नार्थक मानना ही समीचीन एवं अर्थवैशिष्टय साधक है। इस प्रकार पहले शब्द समुद्र का अर्थ आकाश और अर्णव का अर्थ सागर ग्रहण किया गया है। निघण्टु में इसका प्रमाण मिलता है—"**समुद्रः अन्तरिक्षनाम**" [निघ० १.३] "**अर्णा उदकनाम**" [निघ० १.१२] "**अर्णवान् अर्णस्वतः**" [निघ० १०.९] = अर्णस् जल को कहते हैं। जल से भरपूर होने के कारण 'अर्णवं' समुद्र का नाम है।

५५. व्यवहार में संवत्सर शब्द वर्ष के अर्थ में प्रमुखतः प्रयुक्त होता है, किन्तु यहां यह समस्त काल विभाग का द्योतक है। "**तस्य द्वादशमासाः सप्तर्त्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सरः**" [शत० ८.४.१.१६]।

लोक-लोकान्तर, ग्रह-उपग्रह, आदि हैं, उनको (यथापूर्वम्) जैसे पूर्व सृष्टि में थे वैसे ही इस सृष्टि में (अकल्पयत्) बनाया।

इस प्रकार समस्त जगत् को रचकर वह परमेश्वर सबके पाप-पुण्यों का निरीक्षण करता है और उन्हें कर्मानुसार फल प्रदान करता है।

आचमन मन्त्र

विधि—अघमर्षण मन्त्रों के द्वारा ईश्वर के ध्यान और अपने अघों= दोषों, पापों के मर्षण= विश्लेषण पूर्वक उन्हें दूर करने के पश्चात्, पूर्व आचमन मन्त्र के साथ प्रदर्शित विधि के अनुसार, निम्न आचमन मन्त्र से पुनः दाहिनी हथेली में जल लेकर तीन आचमन करें—

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये ।

शंयोरभिस्रवन्तु नः ।। [यजु० अ० ३६, म० १२]

अर्थ—पूर्वनिर्दिष्ट आचमन प्रसंग में द्रष्टव्य है।

मन्त्रार्थ विचारपूर्वक ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना-उपासना[५६]

उपासना विधि—तत्पश्चात् गायत्री[५७] आदि मन्त्रों के अर्थों पर मन से विचार करते हुए ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करें। प्राणायाम भी करें और प्राणायामपूर्वक उपासना भी करें। उसकी विधि निम्न प्रकार है—

---

५६. **विधि पर विचार**—महर्षि दयानन्द की संस्कारविधि में 'मनसापरिक्रमा' मन्त्रों से पूर्व 'मन्त्रार्थ—विचारपूर्वक ईश्वर स्तुति-प्रार्थना-उपासना' का विधान नहीं है, किन्तु पञ्चमहायज्ञविधि में है। कुछ लोग इसको विरोध मानते हैं। गम्भीरता से विचार करने पर और ऋषि की शब्दावली देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विरोध नहीं है। महर्षि ने 'पञ्च महायज्ञों' के पूर्ण और विस्तृत विधान पर प्रकाश डालने के लिए 'पञ्चमहायज्ञविधि' नामक ग्रन्थ विशेष रूप से लिखा है, अतः इस ग्रन्थ में वर्णित विधियां पूर्ण और अधिक प्रामाणिक हैं। अन्य ग्रन्थों में महर्षि का लक्ष्य इनकी प्रमुख विधियों को और वह भी संक्षेप से दर्शाना रहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका और संस्कार विधि दोनों ग्रन्थों में 'सन्ध्योपासन' के प्रसंग में 'पञ्चमहायज्ञविधि' को मुख्य आधार घोषित करके विशेष विधान वहाँ देख लेने का निर्देश दिया है, साथ ही यह भी कहा है कि यहाँ मैं यज्ञों की विधि संक्षेप में लिख रहा हूँ। वे लिखते हैं—"**ये पञ्चमहायज्ञाः मनुष्यैर्नित्यं कर्त्तव्याः सन्ति, तेषां विधानं**

संक्षेपतोऽत्र लिखामः। ·····सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञवि धाने यादृश उक्तस्तादृशः कर्त्तव्यः। तथाग्निहोत्रविधिश्च यादृशस्तत्रोक्तस्तादृश एव कर्त्तव्यः।" [ऋ० आ० भू० पंचमहा० विषयः] अर्थात् 'जो पञ्चमहायज्ञ मनुष्यों को प्रतिदिन करने चाहियें, उनका विधान संक्षेप से यहाँ लिखते हैं। ····· सन्ध्योपासनविधि पंचमहायज्ञविधि में जैसी लिखी है, उसी के अनुसार करनी चाहिये। वैसे ही अग्निहोत्र की विधि भी जैसी वहाँ बतायी है, वैसी ही करनी चाहिये।'

इसी प्रकार संस्कारविधि में लिखते हैं—"इन नित्य करने के योग्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्चमहायज्ञविधि में देख लेवें। [गृहाश्रम प्रकरण]

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश तृ० समु० में लिखा है—"न्यून से न्यून एक घण्टा ध्यान अवश्य करें।" इसी प्रकार मनुस्मृति आदि शास्त्रों में दीर्घसन्ध्या [४.९३,९४] करने का विधान किया है। उन विधानों के अनुसार संध्या करने में यह विधि विशेष उपयोगी है। यहाँ व्यक्ति समय और रुचि के अनुसार जितनी देर तक चाहे गायत्री आदि स्तुति-प्रार्थना-उपासना विषयक मन्त्रों का अर्थपूर्वक चिन्तन कर सकता है और यदि संक्षिप्त विधि अपनानी हो तो गायत्री का ही अर्थ विचार करके अग्रिम विधि प्रारम्भ कर सकता है।

५७. **गायत्री आदि मन्त्रों से अभिप्राय**—इस विधि में महर्षि लिखते हैं कि "**शन्नो देवीरिति पुनराचमेत्। ततो गायत्र्यादिमन्त्रार्थान् मनसा विचारयेत्। पुनः परमेश्वरेणैव सूर्यादिकं सकलं जगद्रचितमिति परमार्थस्वरूपं ब्रह्म चिन्तयित्वा परं ब्रह्म प्रार्थयेत्।**" [पं०म० विधि सन्ध्यो०प्रक०]। अर्थात्—"शन्नो देवी" इस मन्त्र से तीन आचमन करें। तदनन्तर गायत्री आदि मन्त्रों के अर्थविचारपूर्वक परमेश्वर की स्तुति, अर्थात् परमेश्वर के गुण और उपकार का ध्यान कर, पश्चात् प्रार्थना करें।'

यहाँ कुछ विद्वानों ने 'गायत्री आदि' पदों से पिछले सन्ध्या-मन्त्रों को ग्रहण किया है और उन्हीं पर फिर से विचार करने का कथन किया है। कुछ ने गायत्री और उससे मिलते भाव वाले अन्य मन्त्रों पर विचार करने का कथन किया है। दोनों प्रकार के विद्वानों ने अपने-अपने मत के समर्थन में युक्तियां दी हैं और दूसरे पक्ष को अमान्य घोषित किया है।

यहाँ दोनों ही पक्ष महर्षि के भाव और उद्देश्य को समझे बिना एक-एक पक्ष पर आग्रहबद्ध हो गये हैं। वस्तुतः यहाँ न तो केवल पूर्व मन्त्रों पर विचार करने का विधान है और न अन्य मन्त्रों का निषेध। महर्षि द्वारा लिखित संस्कृत और हिन्दी भाषा को पढ़कर यह विधान स्पष्ट होता है कि **'ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना विषयक' मन्त्रों के अर्थ पर मन से विचार करे।"** उदाहरण के रूप में उन्होंने गायत्री मन्त्र का उल्लेख किया है। ऐसे वे मन्त्र

भी हो सकते हैं, जो पहले आ चुके और इनसे भिन्न भी हो सकते हैं। क्योंकि महर्षि ने यहाँ स्तुति, प्रार्थना के साथ-साथ प्रायश्चित्त, सगुण-उपासना, निर्गुण-उपासना, प्राणायामपूर्वक उपासना आदि का विधान करते हुए ईश्वर के पचासों गुणों और विशेषताओं का परिगणन करके उनका ध्यान करने की बात कही है। ये सब भाव केवल पिछले मन्त्रों में समाहित नहीं हो सकते। यह विधान संकेत देता है कि महर्षि यहाँ उपासक को अन्य मन्त्रों पर भी स्वतन्त्रतापूर्वक अर्थविचार करने की छूट दे रहे हैं। इस प्रकार 'दीर्घसन्ध्या' की परम्परा का समर्थन हो जाता है। इस विधि को त्याग देने पर दीर्घसन्ध्या नहीं हो पायेगी। ऋषि ने एक-एक और तीन-तीन घण्टे तक सन्ध्या करना लिखा है। वह इसी प्रकार हो सकती है। दूसरी बात यह है कि महर्षि ने यहाँ किसी मन्त्र का उच्चारण करने का विधान नहीं किया है, अपितु स्पष्टतः कहा है कि "**मन से विचार करे।**" [मनसा विचारयेत्]। इस प्रकार उपासक को इच्छित मन्त्रों का स्वयं मन में चिन्तन करना है, अतः सन्ध्याविधि से न तो विरोध आता है, और न उसके मध्य किसी अन्य मन्त्र को जोड़ने या उच्चरित करने का अवसर। जो लोग यहां कुछ मन्त्रों का उच्चारण करते हैं, वे महर्षि द्वारा प्रदत्त विधि के विरुद्ध कर रहे हैं और सन्ध्या में प्रक्षेप डाल रहे हैं।

केवल पूर्वमन्त्रों के अर्थों पर विचार करने के पक्षधर विद्वानों के तर्कों पर अनेक आपत्तियां उपस्थित होती हैं। यह कहना कि 'पहले उन मन्त्रों का उच्चारण किया गया है, अब अर्थविचार करना है या पहले क्रिया प्रधान थी, अतः अब अर्थप्रधान होगा', हास्यास्पद लगता है। महर्षि ने स्पष्ट लिखा है कि ध्यानपूर्वक या प्रार्थनापूर्वक मन्त्रोच्चारण करें, अतः सभी मन्त्रों की क्रियाएं अर्थविचारपूर्वक सम्पन्न होती हैं। केवल उच्चारणपूर्वक क्रिया तो निष्फल है, उसे सन्ध्योपासना कैसे माना जा सकता है?

और कुछ क्रियाएं ध्यान-प्रार्थनापूर्वक मन्त्रोच्चारण के पश्चात् की जाती हैं, जैसे-आचमन क्रिया, प्राणायाम, शिखाबन्धन। अतः यह युक्ति बनती ही नहीं कि क्रिया प्रधान होने से अर्थविचार नहीं हो पाया, अतः यहाँ अब उन मन्त्रों पर अर्थविचार किया जाये। क्रिया पहले हो चुकी, अर्थ अब विचारेंगे? कितनी असंगत बात है! और फिर 'अघमर्षण' मन्त्रों में तो क्रिया है ही नहीं, उन मन्त्रों पर यह युक्ति संगत ही नहीं होती।

यदि महर्षि को केवल पूर्वमन्त्रों पर अर्थविचार अभीष्ट होता तो वे "**शन्नो देवी**" मन्त्र के सदृश गायत्री के साथ भी "पुनः" पद का प्रयोग करते, किन्तु ऐसा नहीं किया।

इसी प्रकार सगुण-निर्गुण उपासना की इतनी लम्बी विधि भी नहीं देते और न ऐसे पचासों गुणों का परिगणन करते जो उन मन्त्रों में उल्लिखित नहीं हैं।

इससे एक प्रश्न यह भी उपस्थित होगा कि क्या कारण है कि महर्षि ने सन्ध्या में कुछ मन्त्रों की पुनरावृत्ति कर दी और शेष मन्त्रों की नहीं की? क्या आगामी मन्त्र पुनर्विचारणीय नही है?

बहुत-से व्यक्तियों द्वारा यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि वेदों में अन्य बहुत से मन्त्र हैं, जिनके अर्थविचारपूर्वक ईश्वर की उपासना हो सकती है। यदि केवल संन्ध्या-मन्त्रों से उपासना करेंगे तो उनकी उपयोगिता कब और क्या होगी? आदि। इस विधि द्वारा महर्षि ने उस प्रश्न का पहले ही समाधान कर रखा है। उपासक सन्ध्या के इस स्थल पर चारों वेदों के उपासनाविषयक किन्हीं भी मन्त्रों पर अर्थविचार कर सकता है।

इस प्रकार महर्षि द्वारा प्रदत्त सन्ध्या-पद्धति एक साधारण जन से लेकर योगी तक के व्यक्तियों के लिए उपयोगी और ग्राह्य सिद्ध होती है। संक्षिप्त भी है, विस्तृत भी; लघु भी है, दीर्घ भी; दैनिक भी है, विशेष भी।

अतः यह स्पष्टीकरण अधिक समीचीन, तर्कसंगत, परम्परासिद्ध और महर्षिसम्मत है कि उपासक गायत्री-सदृश ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना-उपासना विषयक किन्हीं भी मन्त्रों का समय और रुचि-अनुसार अर्थविचार करके आत्मा को ईश्वर में स्थिर-मग्न करें। शक्ति-अनुसार प्राणायाम करें। इस प्रकार कितनी भी 'दीर्घसन्ध्या' कर सकता है। किन्तु वह ध्यान ही करे, उच्चारण नहीं।

सन्ध्या में पहले आये मन्त्रों के अतिरिक्त ऐसे कुछ निम्नलिखित मन्त्र भी ग्रहण किये जा सकतें। इन मन्त्रों को महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में ईश्वर स्तुति-प्रार्थना-उपासना-प्रसंगों में उद्धृत किया है। 'उपासना विषय' में उन्होंने सगुण-निर्गुण उपासना के लिए निम्न मन्त्र को स्वयं उद्धृत किया है—

स पर्य्यगात्च्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।। [यजु० ४०.८]।

अर्थ—(सः) वह परमात्मा (परि+ अगात्) समस्त जगत् में परिपूर्ण है, (शुक्रम्) शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और समस्त जगत् का कर्त्ता है, (अकायम्) जो अजन्मा अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, कारण-शरीर से रहित है, (अव्रणम्) उसमें कोई छिद्र= अवकाश नहीं है, परमाणु भी उममें छिद्र नहीं कर सकता, (अस्नाविरम्) वह नस-नाड़ियों के बन्धन से रहित है, (शुद्धम्) अविद्या, अज्ञानादि क्लेशों और दोषों से रहित है, (अपापविद्धम्) पाप से रहित रहने वाला है, यतोहि वह धर्मात्मा है, (कविः) सबका जानने वाला है, (मनीषी) अन्तर्यामी और तीनों कालों के व्यवहारों का ज्ञाता है, (परिभूः) सबके ऊपर

विराजमान है, (स्वयम्भूः) कभी उत्पन्न न होने वाला है, अपने सत्य सामर्थ्य से सदा वर्तमान रहने वाला है। (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) अपने सृष्टिकाल में सदा वर्तमान रहने वाली प्रजाओं के लिए (अर्थात् व्यदधात्) सब सत्य अर्थों का, वेदवाणी का उपदेश किया है। वही उपासना करने योग्य है।

यां मेधां देवगणः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ।।

[यजु० ३२.१४]

अर्थ–(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (यां मेधाम्) जिस धारणावती, उत्तम गुणों से युक्त बुद्धि की प्राप्ति के लिए (देवगणः च पितरः उपासते) दिव्य गुण, कर्म स्वभाव वाले विद्वान् एवं पालक ज्ञानी जन आपकी उपासना करते हैं (तया मेधया) उस मेधाबुद्धि से (अद्य माम्) आज मुझको भी (मेधाविनम् कुरु) मेधावी बनाइये। (स्वाहा) मैं यह प्रार्थना सत्य वाणी से करता हूँ।।

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेदामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे ।।

[यजु० ३२.१५]

अर्थ–(वरुणः) अतिश्रेष्ठ परमात्मा (मे मेधां ददातु) मुझे उत्तम गुणों को धारण करने वाली बुद्धि प्रदान करे, (अग्निः प्रजापतिः) ज्ञानस्वरूप परमात्मा (मेधाम्) मुझे ज्ञान को शीघ्रग्रहण करने वाली बुद्धि प्रदान करे, (इन्द्रः च वायुः) परम ऐश्वर्यशाली और परमशक्तिशाली परमात्मा (मेधाम्) मुझे बलिष्ठ बुद्धि प्रापत कराये (च) और (धाता) जगतं को रचकर धारण करने वाला परमात्मा (मे मेधां ददातु) मुझे धारणावती बुद्धि प्रदान करे।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।

[अथ० १०]

अर्थ–(यः) जो परमात्मा (भूतं च भव्यम्) भूतकाल से लेकर भविष्यकाल तक तीनों कालों का (च) और (यः) जो (सर्वम्) समस्त उत्पन्न जगत् का (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है अर्थात् सबका ज्ञाता, सबका नियन्त्रक होकर सर्वोपरि विराजमान है, (च) और (यस्य स्वः केवलम्) जिसका सुख ही स्वरूप है, और जो सुखस्वरूप होने के कारण सबको सुख देने वाला है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस सबसे महान् सामर्थ्य वाले सर्वव्यापक परमात्मा को मेरा नमस्कार है।

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु
शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ।।

[यजु० ३६.२२]

स्तुति—परमेश्वर के गुणों और उपकारों का, उसके नामों और दिव्य कर्मों का स्मरण-ध्यान करना 'स्तुति' है।

प्रार्थना—सब उत्तम कामों में ईश्वर की सहायता की कामना करना 'प्रार्थना' है। मनुष्य निर्बल या अल्पसामर्थ्य वाला और परमेश्वर सर्वसामर्थ्यवान् है। सामर्थ्यवान् से ही प्रार्थना होती है, अतः वही प्रार्थनीय है। महर्षि दयानन्द के शब्दों में—"पश्चात् प्रार्थना करें, अर्थात् सब उत्तम कामों में ईश्वर का सहाय्य चाहें और सदा पश्चात्ताप[५८] करें कि मनुष्य शरीर धारण करके हम लोगों से जगत् का उपकार कुछ भी नहीं बनता; जैसा कि ईश्वर ने सब पदार्थों की उत्पत्ति करके जगत् का उपकार किया है, वैसे हम लोग भी सबका उपकार करें। इस काम में परमेश्वर हमको सहाय करे कि जिससे हम लोग सबकोसदा सुख देते रहे।" [पं०म० विधि सन्ध्योपासन प्रकरण]

अर्थ—हे परमेश्वर! आप जिस-जिस देश से जगत् के रचना और पालन हेतु चेष्टा करते हैं, उस-उस देश से हमें भय से रहित करिये। हम पूर्ण भयमुक्त हों। हमारी समस्त प्रजाओं और पशुओं के लिए अभयदान दीजिये, इसी प्रकार हमसे भी सब प्रजाएं और पशु आदि प्राणी अभय हों।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ।। [यजु० ३०.३]

अर्थ—(देव) हे दिव्य गुणों से युक्त, आनन्दप्रदाता प्रभु! (सवितः) हे सकल जगत् के उत्पादक, परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर! (नः) हमारे (विश्वानि दुरितानि) समस्त दुःखों और दुष्ट गुणों को (पर+आसुव) दूर कीजिये, और (यत् + भद्रम्) जो श्रेष्ठ, कल्याणयुक्त कर्म और भोग है। (तत्) उसको (नः) हमको (आसुव) प्राप्त कराइये।

इसी प्रकार ईश्वर स्तुति-प्रार्थना-उपासना के शेष सात मन्त्र भी यहां अर्थविचारपूर्वक जपें।

५८. **पश्चात्ताप**—यहाँ पश्चात्ताप से अभिप्राय शोकपूर्ण स्थिति में आने से नहीं है, अपितु अनुचिन्तनपूर्वक भविष्य में प्रयासशील होने की प्रेरणा देने के लिए है। उपासक यह चिन्तन करे कि मैंने अब तक अमुक उपकार के कार्य करने चाहियें थे, जो नहीं किये। भविष्य में उन्हें करने का निश्चय करे। नहीं करने के लिए खेद का अनुभव करे और भविष्य में करने के लिए उत्साह का संचार

उपासना—ईश्वर के ध्यान में और स्वरूप में अपनी आत्मा को मग्न करना 'उपासना' है। महर्षि दयाननद लिखते हैं— ''तदनन्तर ईश्वर की उपासना करें। सो दो प्रकार की है— एक, सगुण और दूसरी, निर्गुण। जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, चेतन, व्यापक, अन्तर्यामी, सबका उत्पादक, धारण करने हारा, मंगलमय, शुद्ध, सनातन, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदार्थों का देने वाला, सबका पिता, माता, बन्धु, मित्र, राजा, न्यायाधीश है। इत्यादि ईश्वर के गुण-विचारपूर्वक उपासना करने का नाम 'सगुणोपासना' है।

तथा निर्गुणोपासना इस प्रकार से करनी चाहिये कि ईश्वर अनादि, अनन्त है, जिसका आदि और अन्त नहीं। अजन्मा, अमृत्यु, जिसका जन्म और मरण नहीं। निराकार,निर्विकार, जिसका आकार और जिसमें कोई विकार नहीं। जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, अन्याय, अधर्म, रोग, दोष, अज्ञान और मलीनता नहीं है। जिसका परिमाण, छेदन, बन्धन, इन्द्रियों से दर्शन, ग्रहण और कम्पन नहीं होता। जो ह्रस्व, दीर्घ, और शोकातुर कभी नहीं होता। जिसको भूख, प्यास, शीतोष्ण, हर्ष, और शोक कभी नहीं होते। जो उलटा काम नहीं करता, इत्यादि जो जगत् के गुणों से ईश्वर को अलग जान के ध्यान करना, वह 'निर्गुणोपासना' कहाती है।

इस प्रकार प्राणायाम करके अर्थात् भीतर के वायु को बल से नासिका के द्वारा बाहर फेंक के, यथाशक्ति बाहर ही रोक के पुनः धीरे-धीरे भीतर ले के, पुनः बल से बाहर फेंक के रोकने से मन और आत्मा को स्थिर करके, आत्मा-बीच में जो अन्तर्यामी रूप से ज्ञान और

करे। जैसे परमेश्वर ने सभी पदार्थ परोपकारार्थ रचे हैं, उससे प्रेरणा ले और मनुष्य शरीर से परोपकार करके इसे कृतकृत्य करे। स्वार्थी और आतमकेन्द्रित जीवन तो पशु जीते हैं, फिर मनुष्य जीवन पाकर क्या लाभ कमाया? तभी तो महर्षि भर्तृहरि ने कहा कि—

''**ते मर्त्यलोके भुविभारभूताः, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।**'' [नीति० १२]

इसी प्रकार जाने-अनजाने में हुए दोषों, पापों, त्रुटियों पर प्रायश्चित्तपूर्वक खेद अनुभव करे और पुनः न करने का निश्चय करे।

आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर है, उसमें अपने आपको मग्न करके, अत्यन्त आनन्दित होना चाहिये। जैसे, गोताखोर जल में डुबकी मार के शुद्ध हो के बाहर आता है, वैसे सब जीव लोग अपने आत्माओं को शुद्ध, ज्ञान-आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर में मग्न करके नित्य शुद्ध करें।"

[मं० महा० विधि संध्योपासन प्र०]

मनसा-परिक्रमा मन्त्र

उद्देश्य—इन मन्त्रों में, आलंकारिक वर्णन द्वारा, संसार में प्रचलित व्यवहार के दृष्टिकोण से परमेश्वर के सर्वव्यापक , सर्वशक्तिमान् और न्यायकारी आदि स्वरूप का वर्णन किया गया है। सभी दिशाओं का परिगणन परमेश्वर के सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् होने का बोध कराने के लिए है। द्वेषभाव वाले व्यक्ति को परमात्मा के मुख में रखने का वर्णन उसके न्यायकारी और कर्मानुसार फल प्रदान करने के गुण का बोध कराने के लिए है। मनसा-परिक्रमा का अर्थ है—'मन के द्वारा सर्वत्र परिक्रमण = विचरण करना और प्रभु को सर्वत्र व्यापक जानना।

विधि—इन मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् न्यायकारी, कर्मानुसार फलदाता प्रभु का ध्यान करते हुए उसकी 'अग्नि "इन्द्र" वरुण' आदि नामों से स्तुति करें और द्वेषभाव का त्याग करके अहिंसा की सिद्धि करें। परमात्मा को बाहर-भीतर सर्वत्र जानकर निर्भय, निःशंक, उत्साही, आनन्दित और पुरुषार्थी बने रहें। इस प्रकार मन को शुद्ध बनायें।

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।।१।।

---

५९. **प्लुत उच्चारण नहीं—"यो३स्मान्"** मन्त्रपद में तीन की संख्या प्लुत उच्चारण अर्थात् लम्बा करके बोलने के लिए नहीं है, अपितु स्वरविशेष की स्थिति का बोध कराने के लिए है। अतः इसे प्लुत नहीं बोलना चाहिये। इसी प्रकार अगले पांच मन्त्रों में भी समझें।

अर्थ—(प्राची दिक्)[६०] जिस ओर मुख करके उपासक उपासना कर रहा है, वह 'प्राची' दिशा है, अथवा सूर्योदय की दिशा प्राची दिशा है,

---

६०. **प्राची**—प्र पूर्वक अञ्चु, धातु से ङीप् प्रत्यय होकर स्त्रीलिंग में 'प्राची' शब्द सिद्ध होता है। व्यवहार में यह पूर्वदिशा = सूर्योदय की दिशा का बोधक है। महर्षि दयानन्द ने इसका 'सामने की दिशा' अर्थ ग्रहण कर विशेष अर्थ का उद्घाटन किया है और एक सैद्धान्तिक भ्रम का निराकरण कर दिया है। महर्षि लिखते हैं—"**यत्र स्वस्य मुखं सा प्राची दिक्, तथा यस्यां सूर्य उदेति साऽपि प्राची दिक्**" [पं०म० विधि] अर्थात्—सन्ध्योपासना करते समय जिस ओर हमारा मुख है, वह प्राची दिशा है; तथा जिस ओर सूर्य उदय होता है, वह भी प्राची दिशा कहलाती है।

भौगोलिक दृष्टि से प्राची का अर्थ सूर्योदय की पूर्व दिशा है, किन्तु व्यवहार में इसके पहली, पुरानी, सामने की, मुख्य आदि अर्थ भी प्रचलित हैं। प्राङ्, प्राक्, प्राच्, इन मूल पदों के ये सभी अर्थ प्रचलित हैं, जैसे—प्राक् सृष्टेः = सृष्टि से पहले, प्राक्कालीन, प्राचीन = पुराना, प्राक्स्थित = सामने स्थित, प्राक्भाग = सामने का भाग आदि। मनुस्मृति का भी इसमें प्रमाण है—

"**यतश्च भयमाशंकेत् प्राचीं तां कल्पयेद् दिशम्**" [७.१८८]

अर्थात्—'राजा, जिधर से अधिक भय हो, उसी को मुख्य दिशा मानकर उधर सेना का मुख करे।'

मुख्यता बतलाने के लिए प्राची का प्रयोग ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी मिलता है—"**तेजो वै ब्रह्मवर्चसं प्राची दिक्**" [ऐ० १.८] = तेज और ब्रह्मवर्चस् प्राची दिशा है अर्थात् प्रधान हैं। मुख्यतः अर्जन करने योग्य हैं।

इस प्रकार महर्षि का अर्थ परम्परा, व्यवहार और शास्त्रों के अनुकूल है। इस अर्थ के द्वारा उन्होंने इस धारणा को नकारा है कि 'केवल प्राची दिशा की ओर मुख करके ही सन्ध्या करनी चाहिये।' साथ ही इस सिद्धान्त की स्थापना एवं समर्थन किया है कि सन्ध्या में दिशा का कोई बन्धन नहीं है। परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है, अतः सभी दिशाओं में मुख करके सन्ध्या की जा सकती है।

यहाँ व्यावहारिक प्रयोग के आधार पर प्राची आदि शब्दों से दिशा विशेष का भी ग्रहण किया है। व्यावहारिक प्रयोग के आधार पर दिशापरिगणन का अभिप्राय यह है कि ईश्वर सर्वत्र है, और सर्वव्यापक है। वही ईश्वर प्राची का स्वामी है, वही प्रतीची का, वही दक्षिण का, वही उत्तर, ध्रुवा और ऊर्ध्वा का। उसी ईश्वर का भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण है और भिन्न-भिन्न गुणों का परिगणन। जो लेखक अग्नि आदि को दिशा-विशेष के साथ जोड़कर संगति लगाते हैं, वे भूल करते हैं। क्योंकि, दिशा-विशेष के अलग-अलग ईश्वर नहीं हैं और न दिशा-विशेष में ईश्वर के गुणों में भिन्नता होती है। यह तो केवल

(अग्निः + अधिपतिः)[६१] अग्नि = प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही इसका स्वामी है। (असितः + रक्षिता)[६२] बन्धनरहित और अज्ञानजन्य बन्धनों से रहित वह परमात्मा सब प्रकार से हमारी रक्षा करने वाला है। (आदित्याः[६३] + इषवः)[६४] सूर्य-किरणें अथवा ज्ञान की किरणें बाणतुल्य हैं,

आलंकारिक वर्णन है। इसका भाव यही है कि जिधर भी हम देखते हैं, उधर ही वह सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक प्रभु विद्यमान है और उसके भिन्न-भिन्न नाम हैं, अनेक गुण हैं, अनेक रक्षा और सुख प्राप्ति के साधन हैं। अन्य मन्त्रों में भी दिशा शब्द से यही भाव समझना चाहिये।

६१. **गति अर्थ वाली 'अगि' धातु से "अंगेर्न लोपश्च"** [उणादि० ४.५०] सूत्र से 'निः' प्रत्यय और न लोप होकर 'अग्नि' शब्द सिद्ध होता है। गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन, प्राप्ति। इस प्रकार अग्नि के अनेक अर्थ होते हैं, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, सर्वव्यापक, ज्ञान-सुख आदि का प्रापक आदि। दुःख, दोष, मन आदि की मलीनता का नाशक होने से भी ईश्वर का नाम 'अग्नि' है। वेदमन्त्रों और अन्य शास्त्रों में इसके प्रमाण द्रष्टव्य हैं—"**इन्द्रं मित्रं-वरुणम् अग्निम् आहुः····· एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति।**" [ऋग्० १.१६४.४६]।
"**तदेवाग्निस्तदादित्यः····· सः प्रजापतिः**" [यजु० ३२.१]। "**अग्निरेव ब्रह्म**" [शत० १०.४.१.५]। "**विराट् अग्निः**" [शत० ६.२.२.३४]। "**एतमेके वदन्त्यग्निं..... ब्रह्म शाश्वतम्**" [मनु० १२.१२३] आदि। इस प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्म का नाम अग्नि है। वही प्राची दिशा का भी स्वामी है।

६२. **असितः**—'षिञ्-बन्धने' धातु से क्त प्रत्यय के योग से 'सितः' पद बना। निषेधार्थक नञ् समास होने पर न सितः = असितः, अर्थात् जो बन्धन आदि से रहित है, वह ईश्वर। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ—'बन्धनरहित ईश्वर हमारा रक्षक है।'

६३. **आदित्याः**—'दो अवखण्डने' धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर 'दितिः' बना। नञ् समास में 'अदितिः' अत्व और ण्य प्रत्यय [अष्टा० ४.१.८५] होकर 'आदित्य' शब्द सिद्ध होता है। सूर्य, सूर्य किरणें, अखण्डित शक्ति या परमेश्वर का नाम आदित्य है। "**अदितेः पुत्रः आदित्यः**" [निरु० २.१३] = भौतिक अर्थ में प्रकाशस्वरूप सूर्य की किरणें 'आदित्य' हैं, क्योंकि वे उससे उत्पन्न होती है। आध्यात्मिक और प्रतीकार्थ में ज्ञानस्वरूप परमात्मा से उत्पन्न ज्ञान-किरणें, ज्ञानज्योति, नियम या व्यवस्थाएं 'आदित्य' हैं। कुछ प्रमाण उल्लेखनीय है—"**तदेवाग्निस्तदादित्यः····· सः प्रजापतिः**" [यजु० ३२.१] "**आदित्यो वै ब्रह्म**" [जै० उ० ३.४.९] "**असौ वाऽआदित्यो ब्रह्म**" [शत० ७.४.१.१४] "**असौ वा आदित्यः सुब्रह्म**" [षड्० १.१] आदि।

जो अज्ञानान्धकार की नाशक हैं और हमारी रक्षा की साधन हैं। (तेभ्यः + नमः) ईश्वर के इन सब गुणों को हम नमस्कार करते हैं। (अधिपतिभ्यः + नमः) ईश्वर के स्वामित्वपरक गुणों को हम नमस्कार करते हैं। (रक्षितृभ्यः + नमः) ईश्वर के रक्षक गुणों को हम नमस्कार करते हैं। (एभ्यः इषुभ्यः + नमः अस्तु) श्रेष्ठों की रक्षा और पापियों के पीड़ा-साधक बाणतुल्य जो उपाय हैं, हम उनको नमस्कार करते हैं। (यः + अस्मान् द्वेष्टि) जो कोई हमसे द्वेष करता है, और (वयं यं द्विष्मः) हम जिसे द्वेष करते हैं, द्वेषभाव रखते हैं (तम्) उस व्यक्ति या द्वेषभाव को (वः + जम्भे दध्मः) आपके जम्भ = मुख अर्थात् न्यायव्यवस्था में रखते हैं। अभिप्राय यह है कि जो भी कोई व्यक्ति, चाहे वह कोई अन्य है अथवा मैं हूँ, उसको द्वेष भाव का फल देने हेतु आपको सौंपते हैं, आप ही कर्मानुसार फल दें। हम द्वेषभाव के वशीभूत होकर बदले की कोई क्रिया मानसिक, वाचिक या शारीरिक रूप से नहीं करेंगे।

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।।२।।

अर्थ—(दक्षिणा दिक्)[६५] जो हमारे दाहिनी ओर है अथवा जो दक्षिण

---

६४. **इषवः**—'ईष्—गति-हिंसा-दर्शनेषु' 'इषु-इच्छायाम्' या 'इष्‌गतौ' धातुओं से 'इषु' शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ बाण नामक अस्त्र और साधन अर्थ है। 'इषवः' से भाव है ईश्वर के वे नियम-व्यवस्थाएं, उपाय या साधन, जो श्रेष्ठों के रक्षक और दुष्टों को दण्डित करने वाले हैं; श्रेष्ठता के रक्षक और दुष्टता के विनाशक हैं।

६५. **दक्षिणा**—'दक्ष-गतिहिंसनयोः' धातु से **द्रुदक्षिभ्यामिनन्**' [उणादि० २.५१] सूत्र से इनन् प्रत्यय् होकर 'दक्षिण' शब्द बना, पुनः स्त्रीलिंग टाप् होकर 'दक्षिणा' शब्द बना। इसका 'दक्षिण दिशा' के अर्थ में रूढ प्रयोग है। 'दायें भाग' और 'दायें' अर्थ में भी दक्षिण का प्रयोग होता है—"**दक्षिणो हस्तो**" [निरु० १.७] = दायां हाथ। "**दक्षिणो वा अर्ध आत्मनो (शरीरस्य) वीर्यवत्तरः**" [तां० ५.१.१३] = दायां आधा भाग (शरीर का) अधिक शक्तिशाली है। इस प्रकार 'दाहिने ओर की दिशा' अर्थ बनता है।

दिशा है, (इन्द्रः + अधिपतिः)[६६] पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर ही उसका स्वामी है। (तिरश्चिराजिः + रक्षिता)[६७] तिर्यक्योनि के प्राणियों अर्थात् कीट-पतंग, सर्प, वृश्चिक आदि की राजि = पंक्ति से रक्षा करने वाला वह परमेश्वर है अर्थात् तिर्यक्योनि की श्रृंखला के प्राणियों की योनि में जाने से वही या उसकी भक्ति ही रक्षा करती है। (पितरः + इषवः)[६८] पितर = ज्ञानी लोग बाणतुल्य हैं, जो ज्ञान द्वारा कुटिलतायुक्त कर्मों से हमें दूर रखते हैं और उत्तम कर्मों को ग्रहण कराते हैं। शेष अर्थ पूर्ववत् है।

---

६६. **इन्द्रः**—'इदि-परमैश्वर्ये' धातु से "**ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०**" [उणादि २.२८] से 'रन्' प्रत्यय के योग से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ है—'परम ऐश्वर्य से युक्त।' निरुक्त में भी इसी अर्थ में निरुक्ति की है—"**इन्दतेः ऐश्वर्यकर्मणः**" [निरु० १०.८]। ऐश्वर्य में सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वसम्पन्नता, सर्वोपरिता , सर्वप्रभुता आदि दिव्य गुणों का समावेश होता है। यह ब्रह्म का ही नाम है। इसमें कुछ प्रमाण उल्लेखनीय हैं—"**इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निमाहुः..... एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति।**" [ऋग्० १.१६४.४६] "**यो ह खलु वाव प्रजापतिः स उ वा इन्द्रः**" [तै० ब्रा० १.२.२.५] "**इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्**" [मनु० १२.१२३] आदि।

६७. **तिरश्चिराजिः**—इसकी व्युत्पत्ति होगी—"**तिर्यक् चरणशीला = गमनशीला, राजिः = पंक्तिः यस्य सः तिर्यक्योनि-वर्गः**" **तिर्यक्योनि अर्थात् पशु, पक्षी कीट, पतंग आदि। इनसे ईश्वर रक्षा करता है। इसका संकेतितार्थ है कि परमात्मा पितरों** = ज्ञानियों के माध्यम से इन योनियों में जाने से रोकता है। ज्ञानी लोग हमें श्रेष्ठ कर्मों की शिक्षा देते हैं, जिनके पालन से हमें तिर्यक् योनियां न मिलकर श्रेष्ठ योनि मिलती है। यही ईश्वर द्वारा हमारी रक्षा है।

६८. **पितरः**—जो विद्या-सुशिक्षा आदि देकर हमारी पालना भी करते हैं, ऐसे ज्ञानी और पालक जन माता-पिता आदि 'पितर' कहलाते हैं। 'पा-रक्षणे' धातु से "**नप्तृनेष्टृत्वष्टृ०**" [उणादि २.९५] से 'तृच्' होकर निपातित 'पिता' पद बनता है। समास में एकशेष होकर [अष्टा० १.२.७०] 'पितरौ' बनता है। बहुवचन में 'पितरः' रूप होगा। निरुक्त में इसकी व्युत्पत्ति की है— "**पिता = पाता वा पालयिता**" [निरु० ४.२१] = जो रक्षक और पालन-पोषण करता है, वह पिता है। "**पिता = गोपिता**" [निरु० ६.१५] = रक्षा करने वाला पिता है। वे ही लोग 'पितर' हैं। दैनिक पितृयज्ञ में इन्हीं वयोवृद्ध जनों की सेवा करने, संभाल करने का आदेश है। इनकी सेवा करके उन्हें संतुष्ट रखना ही पितृ-ऋण को चुकाना है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा है—**मर्त्याः पितरः**" [शत० २.१.३.४] = मनुष्य ही 'पितर' कहलाते हैं अर्थात् मृत व्यक्ति नहीं। "**देवा वा एते पितरः**" [गो० उ० १.२४]। "**विद्वांसो हि देवाः**" [शत०

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।।३।।

अर्थ—(प्रतीची दिक्)[६९] जो पृष्ठभाग में है अथवा जो पश्चिम दिशा है, (वरुणः + अधिपतिः)[७०] सबसे उत्तम, सबके द्वारा वरणीय और सबसे महान् ईश्वर ही उसका स्वामी है। (पृदाकुः + रक्षिता)[७१] विषधर या भयंकर ध्वनि करने वाले प्राणियों से या ऐसी भावनाओं से रक्षा करने वाला है अर्थात् इनकी योनियों में जाने से बचाने वाला है (अन्नम् +

३.७.६.१०]= देवों को पितर कहते हैं और विद्वानों का नाम देव है। "**स्विष्टकृतो वै पितरः**" [गो०उ० १.२५]= सुख-सुविधा देकर हित करने वाले जन पितर कहाते हैं। इसीलिए मनु ने पितृयज्ञ में विधान किया है कि क्योंकि माता, पिता, दादा आदि वयोवृद्ध जन हमें ज्ञान भी देते हैं, पालन-पोषण भी करते हैं, हित भी करते हैं, अतः उनकी प्रीतिपूर्वक सेवा करनी चाहिये—

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्।। [मनु ३.८२]

अर्थात्—पितरों = माता, पिता, दादा आदि पालक जनों के प्रति प्रीति और श्रद्धा रखते हुए प्रतिदिन उनकी अन्न, जल, दुग्ध, फल-मूल आदि पदार्थों से सेवा-संतुष्टि करें।' इन पितरों के कार्य-गुण भेद से अग्निष्वात्त, बर्हिषद आदि अनेक नाम हैं। ये पितर 'इषुओं' के समान हमारी रक्षा करते हैं और हमारी बुराइयों, त्रुटियों को नष्ट करते हैं।

६९. **प्रतीची**—'प्रति' उपसर्गपूर्वक 'अञ्चु-गतिपूजनयोः' धातु 'क्विन्' प्रत्यय [अष्टा० ३.२.५९] न लोप, ङीप् प्रत्यय होकर [अष्टा० ४.१.६] 'प्रतीची' शब्द बनता है। यह प्राची का विपरीतार्थक है, जिसका अर्थ है पृष्ठभाग की दिशा और पश्चिम दिशा। जैसा—प्रतीचीनमुख का अर्थ होता है 'विपरीत या प्रतिकूल दिशा की ओर मुख।' प्रति उपसर्ग प्रतिकूल अर्थ में आता है।

७०. **वरुण**—'वृञ्-वरणे धातु से "**कृवृदारिभ्यः उनन्**" [उणादि० ३.५३] सूत्र से 'उनन्' प्रत्यय के योग से 'वरुण' शब्द सिद्ध होता है। निरुक्तकार ने इसकी व्युत्पत्ति की है—"**वरुणो वृणोतीति सतः**" [निरु० १०.३]= सबको आवृत करने के कारण जो सर्वोपरि है या "**व्रियते सतः**" = जिसका सर्वोत्तम होने के कारण वरण किया जाता है। यह परमेश्वर का प्रसिद्ध नाम है, जैसा कि इस प्रमाण में उक्त है—"**इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निमाहुः**" [ऋग्० १.१६४.४६]।

इषवः)[७२] भोज्य-पेय आदि प्राणदायक पदार्थ एवं ओषधियां बाणतुल्य हैं, जो हमारे जीवन की रक्षा करती हैं और रोगों का नाश करती हैं।। शेष अर्थ पूर्ववत् है।

उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।।४।।

अर्थ—(उदीची दिक्)[७३] जो हमारे बाईं ओर की दिशा है, अथवा जो

ब्राह्मणग्रन्थों में इस वरुण को सम्राट्, पापियों को बन्धन में डालने वाला और अन्नों का पति कहा है। अन्न ही वरुण के इषु = बाण हैं—"**वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः**" [तै० ब्रा० २.५.७.३; शत० ११.४.३.१०] "**वरुणोऽन्नपतिः**" [शत० १२.७.२.२०] आदि।

७१. **पृदाकुः**—'पर्द-कुत्सितेशब्दे' धातु से "**पदेर्नित् सम्प्रसारणमलोपश्च**" [उणादि० ३.८०] सूत्र से काकुः प्रत्यय, सम्प्रसारण और अकार लोप होकर 'पृदाकुः' पद सिद्ध होता है। इसका अर्थ है—भयंकर शब्द करने वाले हिंसक या विषधर पशु, प्राणी आदि। मन्त्र में इनसे रक्षा करने से अभिप्राय है ऐसे पशुओं, प्राणियों की योनि में जाने से रक्षा करना या ऐसी घातक भावनाओं से बचाना।

७२. **अन्नम्**—'अन-प्राणने' धातु से "**कृवृ०**" [उणादि ३.१०]। सूत्र से 'नः' प्रत्यय होकर या 'अद्-भक्षणे' धातु से क्त प्रत्यय, न आदेश होकर 'अन्न' पद सिद्ध होता है। निरुक्त में कहा है—**अन्नम् उदकनाम**" [निघ० १.१२]। "**अत्तेर्वा** [निरु ३.९]= जल और भोज्य पदार्थों का नाम 'अन्न' है। अन्नपति वरुण इनसे हमारी प्राणरक्षा करता है, जीवन देता है, अतः ये इषु = बाणतुल्य साधन हैं।

७३. **उदीची**—'उत्' उपसर्ग पूर्वक 'अञ्चु'-गतिपूजनयोः' धातु से "**ऋत्विग्दधृग्०**" [अ० ३.२.५९] सूत्र से क्विन् प्रत्यय, न लोप, "**अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्**" [अष्टा० ४.१.६.वा०] से ङीप्, "**उद ईद्**" [अष्टा० ६.४.१३९] ईकारादेश होकर 'उदीची' शब्द सिद्ध होता है। यह दक्षिण दिशा की विपरीत अर्थ वाली दिशा है अर्थात् बायीं ओर की दिशा या उत्तर दिशा।

उत्तर दिशा है, (सोमः + अधिपतिः)[७४] शान्ति, आनन्द आदि गुणों से युक्त और आनन्दप्रद परमात्मा ही उसका स्वामी है। (स्वजः + रक्षिता)[७५] वह अजन्मा ईश्वर सबका रक्षक है। (अशनिः + इषवः)[७६] विद्युत् जिसके बाणतुल्य हैं अर्थात् उसकी सर्वत्र व्याप्त शक्तियां श्रेष्ठों को सुख-आनन्द देकर रक्षा करती हैं और दुष्टों का विनाश करती हैं।। शेष अर्थ पूर्ववत् है।

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।।५।।

अर्थ—(ध्रुवा दिक्)[७७] जो अपने नीचे की ओर ध्रुवा नामक दिशा है, (विष्णुः + अधिपतिः)[७८] सर्वत्र व्याप्त परमेश्वर ही उसका स्वामी है।

---

७४. **सोमः**—'षुञ्-अभिषवे' 'षू-प्रेरणे' 'षु-प्रसवैश्वर्ययोः' धातु से "**अर्त्तिस्तुसुहृसृ०**" [उणादि० १.१४०] सूत्र से मन् प्रत्यय। सबके द्वारा आत्मा में दर्शनीय होने से, सबका उत्पादक एवं ऐश्वर्यवान् होने से, सबका प्रेरक एवं आनन्दस्वरूप होने से ईश्वर का नाम 'सोम' है। इन्द्र को ही सोम कहा है—"**सोमो वा इन्द्रः**" [शत० २.२.३.२३]।

७५. **स्वजः**—'**न जायते इति अजः, सु अजः स्वजः**" अर्थात् जो उत्पन्न नहीं होता, उसे 'अजः' कहते हैं, जो कभी भी उत्पन्न न होने वाला है, वह स्वजः = पूर्णतः अजन्मा है। यह ईश्वर का नाम है, यथा—"**अज एकपाद् देवो**" [ऋ० ७.३५.१३]। **आदि**।

७६. **अशनिः**—'अशूङ्-व्याप्तौ' धातु से "**अर्त्तिसृधृधम्यश्यवितृभ्यो निः**" [उणादि० १.१०३] सूत्र निः प्रत्यय। जो व्याप्त करता है या होता है, वह 'अशनिः' कहाता है। अशनि विद्युत् को कहते हैं। यहां उसका संकेतितार्थ है—'परमात्मा की व्याप्त शक्तियां।'

७७. **ध्रुवा**'ध्रु-गतिस्थैर्ययोः' धातु से बाहुलक आदि 'कः' प्रत्यय [२.६२], स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय। "**ध्रुवति स्थिरं भवति इति ध्रुवम् = निश्चलम्**" = जो स्थिर रहता है वह 'ध्रुव' कहाता है, स्त्रीलिंग में उसी को ध्रुवा = स्थिरा कहते हैं। पृथिवी का नाम भी ध्रुवा है [शत १.३.२.४]। अतः नीचे पृथ्वी की ओर की दिशा का नाम ध्रुवा है। ध्रुवा का अर्थ भी नीचे है, यह ऊर्ध्वा का विपरीतार्थक है।

७८. **विष्णुः**—'विष्लृ-व्याप्तौ' धातु से "**विषेः किच्च**" [उणादि० ३.३८] सूत्र से 'नः' प्रत्यय। "**वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः**" = जो समस्त

(कल्माषग्रीवः + रक्षिता)[७९] हरित रंग वाले वृक्ष आदि जिसकी ग्रीवा के समान हैं, वह वृक्ष-वनस्पति आदि का उत्पादक परमेश्वर ही हमारा रक्षक है, अथवा पापों, दोषों बुराइयों को निगलने वाला, नष्ट या दूर करने वाला ईश्वर ही कल्माषग्रीव है, वही हमारा रक्षक है। (वीरुधः + इषवः)[८०] वृक्ष-वनस्पतियां, ओषधियां आदि जिसके बाणतुल्य हैं अर्थात् जीवनदायक और रक्षक हैं; दुर्बलता, रोग आदिनाशक हैं।। शेष अर्थ पूर्ववत् है।

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।।६।।

[अथर्व० कां० ६ । सू० २७ । मं० १-६

चर-अचर जगत् को व्याप्त किये है, उस प्रभु का नाम विष्णु है। **विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा**" [निरु० १२.१८] = व्यापक होने से और योगियों द्वारा विशेषतः दर्शन करने के कारण परमात्मा को विष्णु कहते हैं।

७९. **कल्माषग्रीवः**–१. "**कल्माषाः = हरितवर्णाः वृक्षादयः ग्रीवावत् यस्य सः कल्माषग्रीवः**" = हरित रंग के वृक्ष आदि जिसकी ग्रीवा के समान हैं, वह विष्णु = परमात्मा। कल्माष में कल + क्विप् 'तं माषयति अभिभवति इति कल्माषः,' कल् माष् पदों में समास है। ग्रीवा 'गृ-निगरणे' धातु से बना है। जिससे भोजन निगला जाता है या "**गिरतेर्वा**" [निरु० २.२८] = जिससे उच्चारण द्वारा स्तुति की जाती है।

२. कल्मष का अर्थ पाप, दोष, बुराई होता है। र ल के अभेद से कर्म = शुभकर्म, स्यति = नाशयति इति कल्मषः। कल्मष एव कल्माषः,कर्म = शुभकर्म माषयति = नाशयति इति पापम्। निगलति यया सा ग्रीवा, तद्वान् कल्माषग्रीवः अर्थात् जो पापों बुराइयों, दोषों को नष्ट या दूर करने वाला है, वह परमात्मा ही हमारा रक्षक है।

८०. **वीरुधः**–वि पूर्वक 'रुह-बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च' धातु से क्विप्, हकार को धकार, उपसर्ग को दीर्घ। निरुक्त में व्युत्पत्ति की है–"**वीरुध ओषधयो भवन्ति विरोहणात्**" [निरु० ६.३] वीरुध औषधियों = वृक्ष-वनस्पतियों को कहते हैं, क्योंकि ये ऊपर की ओर उगती हैं।

अर्थ–(ऊर्ध्वा दिक्)[८१] जो अपने ऊपर की दिशा है वह 'ऊर्ध्वा' नामक दिशा है, (बृहस्पतिः+ अधिपतिः)[८२] वाणी, वेदशास्त्र और इस बृहत् ब्रह्माण्ड का पालक परमेवर ही उसका स्वामी है। (श्वित्रः+ रक्षिता)[८३] वही ज्ञानमय, मेघस्वरूप परमात्मा हमारा रक्षक है। (वर्षम्+ इषवः)[८४] वर्षाएं जिसके बाणतुल्य हैं अर्थात् ज्ञान वर्षा, आनन्दवर्षा, ज्ञान व सुख की साधक और अज्ञान और दुःख की नाशक है।। शेष अर्थ पूर्ववत् है।

उपस्थान मन्त्र

विधि–आचमन के द्वारा शरीर को, इन्द्रियस्पर्श और मार्जन मन्त्रों से इन्द्रियों को, प्राणायाम से मन को अघमर्षण मन्त्रों से बुद्धि को और मनसापरिक्रमा मन्त्रों से चित्त को शुद्ध, शान्त और स्थिर करके उपस्थान मन्त्रों के उच्चारण और अर्थविचारपूर्वक सर्वव्यापक ईश्वर

---

८१. **ऊर्ध्वा**–उत् पूर्वक, डुधाञ् धातु से क्वन् प्रत्यय, 'उत्' को 'ऊर्' आदेश होकर ऊर्ध्व बना, स्त्रीलिंग में ऊर्ध्वा = ऊपर की दिशा। निरुक्त में कहा है–**ऊर्ध्वः उच्छ्रितो भवति**" [निरु० ८.१५] = जो ऊपर या ऊंचे है। ब्राह्मणग्रन्थों में आता है– **अथैतद् अन्तरिक्षम् (ऊर्ध्वादिक्), एषा हि दिग्बृहस्पतेः**" [शत० २.३.४.३६] अर्थात् अन्तरिक्ष की ओर ऊर्ध्वा दिशा है, यह बृहस्पति की दिशा है।

८२. **बृहस्पतिः**–बृहत्+ पतिः पदों के समास में सुट् आगम और तलोप होकर [अष्टा० ६.१.१५७ वा०] 'बृहस्पतिः' शब्द बनता है। "**बृहतः पाता वा पालयिता**" [निरु० १०.१२] जो इस ब्रह्माण्ड का पालक और रक्षक है, वह बृहस्पति = परमेश्वर है। "**ब्रह्मवैबृहस्पतिः**" [ऐ० ब्रा० १.१३] = ब्रह्म को ही बृहस्पति कहते हैं। सबसे महान्, वेदवाणी का दाता और पालक, वाणी का स्वामी, विद्वान् आदि भी इसके अर्थ होते हैं।

८३. **श्वित्रः**–'श्विता-वर्णे' धातु से रक् प्रत्यय [उणादि० २.१३] होकर अथवा 'ञिश्विदा-गात्रप्रस्रवणयोः' धातु से श्वित्र शब्द बनता है। इसके अर्थ सफेद रंग, मेघ, झरना अर्थ होते हैं। क्रमशः इनका प्रतीकार्थ है–उज्ज्वल, ज्ञानमय या पवित्र, आनन्दवर्षक, आनन्ददायक। इस प्रकार 'श्वित्रः' परमेश्वर को कहते हैं।

८४. **वर्षम्**–जिस स्वरूप वाला परमेश्वर है, उसी की वर्षा उसके बाण हैं, अतः ज्ञान या आनन्द की वर्षा से यहां अभिप्राय है।

की उपासना[८५] करते हुए उपस्थान करें अर्थात् ईश्वर के समीप बैठा हुआ अनुभव करें।

'उप' उपसर्ग पूर्वक 'ष्ठा-गतिनिवृत्तौ' धातु से 'उपस्थान' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है उप = समीप, स्थान = बैठना। अपने चित्त को स्थिर करके परमेश्वर के समीप बैठा हुआ स्वयं को अनुभव करना। मनसापरिक्रमा मन्त्रों में मन चहुं ओर परिक्रमण कर ईश्वर के अनन्त ऐश्वर्य, शक्ति, व्यापकता में आनन्द अनुभव कर रहा था। यहां उसे आत्मा में स्थिर करना है और स्वयं को प्रभु के आश्रय में स्थित करना है। मन्त्र निम्न हैं—

ओं उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।।१।।

[यजु० अ० ३५ । मं० १४।।]

अर्थ—हे परमेश्वर! (वयम्) हम सब (तमसः+ परि) अज्ञानान्धकार से पृथक् रहने वाले, (स्वः) आनन्दस्वरूप और स्वयं प्रकाशस्वरूप, (उत्तरम्) प्रलय के अनन्तर भी सदा वर्तमान, (देवत्रा देवम्)[८६] देवों में भी देव = देवाधिदेव, अर्थात् आनन्द और प्रकाश देने

८५. **उपासना और उपस्थान**—दोनों शब्दों के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर है। दोनों 'उप' समान उपसर्ग होते हुए भी धातुओं में अन्तर है। उपासना में 'आस्-उपवेशने' धातु है, जिसका अर्थ है-परमात्मा के समीप बैठना = परमात्मा में आत्मा को मग्न करना।' उपस्थान में 'ष्ठा-गतिनिवृत्तौ' धातु है, जिसका अर्थ है-चित्त की गतिनिवृत्ति करना, उसे स्थिर करना।' उपस्थान उपासना की पहली स्थिति है।

८६. **देवत्रादेवम्**—देव शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। चेतन और जड़ के भेद से देव दो प्रकार के होते हैं। उनमें परमेश्वर ही सबसे प्रमुख और प्रथम देव है। वही केवल उपास्य है। अन्य देव उसी के अंग-प्रत्यंग या अन्तर्गत हैं, या फिर उसके गुणों के नाम हैं। यहां उपासना का प्रसंग है, अतः सर्वत्र परमेश्वर का ही ग्रहण करना चाहिये। प्रमाण टिप्पणी संख्या ३५ में द्रष्टव्य हैं।

''देवत्रा' सप्तम्यर्थक **अव्यय** है। इसमें देव शब्द से **''देवमनुष्य पुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्''** [अष्टा० ५.४.५६] से 'त्रा' प्रत्यय प्रत्यय है। इसका अर्थ है—'देवों में।'

वालों के आनन्ददाता और प्रकाशक (सूर्यम्)[८७] चराचर जगत् के संचालक, प्रेरक (उत्तमम्) सर्वोत्तम (ज्योतिः) ज्ञानस्वरूप आपको (उत् + अगन्म) उत्कृष्ट श्रद्धा से प्राप्त हुए हैं।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम् ।। २।।

[यजु० अ० ३३ । मं० ३१ ।।]

अर्थ–(उ) निश्चय से (केतवः)[८८] किरणें या पताकाएं अर्थात् सृष्टि के सभी पदार्थ, संचालक नियम, गुण और वेदों की ऋचाएं जो कि ईश्वर की सत्ता की बोधक हैं, या बुद्धियां (त्यम्) उस (जातवेदसम्)[८९]

---

८७. **सूर्यम्**–उपासना प्रसंग में सूर्य परमेश्वर का वाचक है। 'षू-प्रेरणे' धातु से "**राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्य०**" [अष्टा० ३.१.११४] सूत्र सें क्यप् प्रत्यय, रुडागम होकर निपात शब्द सूर्य बनता है। जिसके अर्थ हैं–"**सुवति प्रेरयति, संचालयति, उत्पादयति चराचरमिति**" जो चराचर जगत् को प्रेरित करता है, संचालित करता है, उत्पन्न करता है, वह सूर्य = परमात्मा है। निम्न मन्त्र में परमात्मा को ही सूर्य कहा है, क्योंकि ईश्वर ही सब चेतन और स्थावर पदार्थों में व्याप्त होकर उन्हें चला रहा है, अतः वही सबका आत्मा है– "**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**" [यजु० ७.४२]

८८. **केतवः**–किरणों और पताकाओं को 'केतवः' कहते हैं, जैसे किरणें सूर्य का और पताका राजा या सेनाधीश का अथवा किसी देश-विशेष का बोध कराती हैं, उसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ, नियम–व्यवस्थाएं, वेदवाणी, उनको रचने वाले ईश्वर की सत्ता का बोध कराती हैं। ये बोधक चिन्ह हैं। "**केतन्ति = विज्ञापयन्ति इति केतवः।**" 'कित-मतौ' या 'कित-निवासेरोगापनयनेच' धातु से औणादिक 'उः' प्रत्यय 'केतुः', बहुवचन में 'केतवः'। अथवा 'चायृ-पूजानिशामनयोः' धातु से "**चायः की**" [उणादि १.७४] से 'तुः' प्रत्यय, धातु को 'की' आदेश। निरुक्त में कहा है–"**केतवः रश्मयः**" [१२.१५] निघण्टु में केतु प्रज्ञा = बुद्धि का नाम भी पठित है [३.९]। ज्ञापक होने से केतु प्रज्ञा है।

८९. **जातवेदसम्**–अनेकार्थक यह शब्द परमात्मावाचक है। 'जनी-प्रादुर्भावे' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'जात' बनता है। जात पूर्वक 'विद्-ज्ञाने', 'विद्-सत्तायाम्', 'विद्लृ-लाभे', 'विद्-विचारणे', 'विद्-चेतनाख्याननिवासेषु' धातुओं से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'जातवेदस्' शब्द बनता है। निरुक्त में इसकी व्युत्पति निम्न प्रकार की है–"**जातवेदाः कस्मात्? जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः, जाते-जाते विद्यते इति वा, जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः।**" [निरु० ७.१९]

प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान, प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ का वेत्ता, वेदों का रचयिता जो सर्वज्ञ परमेश्वर है, उसको और (देवम्) दिव्य गुणयुक्त देवाधिदेव (सूर्यम्) सकल जगत् के उत्पादक और प्रकाशक ईश्वर को (विश्वाय दृशे)[९०] पूर्णरूप से दिखाने या ज्ञान कराने के लिए (उद्-वहन्ति) भलीभांति जनाती हैं और प्राप्त कराती हैं। हम उसको प्राप्त करते हैं।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षँ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ।।३।।

[यजु० अ० ७ । मं० ४२ ।।]

अर्थ—वह परमात्मा (चित्रम्)[९१] पूज्य, कामना करने योग्य और अद्भुत = विलक्षण स्वरूप और शक्ति से युक्त है (देवानाम् अनीकम्)[९२] दिव्यगुण स्वभाव वाले विद्वानों का परम उत्तम बल है, आश्रय है। विद्वज्जन उसी से बल प्राप्त करते हैं। (उत् + अगात्) वह अच्छी प्रकार हमारी आत्मा में प्रकाशित होवे अर्थात् प्रकाशित हुआ है। वह (मित्रस्य)

अर्थात्—'जो सभी उत्पन्न वस्तुओं को जानता है, सर्वज्ञ है। जिसको उत्पन्न सभी मनुष्य जानते हैं, जो प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान हैं, जो धन और ऐश्वर्य का उत्पादक एवं दाता है, जिससे वेदों का ज्ञान और समस्त विद्याएं उत्पन्न हुई हैं, वह जातवेदस् = परमेश्वर है। ब्राह्मण में भी कहा है—"**तद् यज्जातं जातं विन्दते तस्माज्जातवेदाः**" [शत० ९.५.१.६८] = जो उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ को जानता है, अतः वह ईश्वर 'जातवेदस्' है। "**प्राणो वै जातवेदाः स हि जातानां वेद**" [ऐ० २.३९] = वह सबका प्राणस्वरूप है और प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ को जानता है।

९०. **विश्वाय दृशे** —विश्व 'सर्व' का वाचक है—"**विश्वम् सर्वम्**" [निरु० ३.२२]। विश्वाय = विश्वम्। या, चतुर्थी का एकवचन। **दृशे**—दृश् धातु से 'के' प्रत्यय निपातित। दृशे + द्रष्टुम् = देखने के लिए। निरुक्त में "**दृशे = दर्शनाय**" [१२.१५]।

९१. **चित्रम्**—'चिञ्-चयने' धातु से "**अमिचिमिशसिभ्यःक्त्रः**" [उणा० ४.१६४] सूत्र से 'क्त्र' प्रत्यय। निरुक्त में कहा है—"**चित्रं चायनीयं महनीयम्**" [१२.६]। इस प्रकार इसके अर्थ बनते हैं—जो पूज्य है, कामना करने योग्य है, विलक्षण = अद्भुत है।

९२. **अनीकम्**—"अन-प्राणने' धातु से औणादिक [४.१७] से 'ईकन्' प्रत्यय। जीवनदायक बल।

[९३] रागद्वेषरहित, मित्रभावना वाले मनुष्य का = उपासक का (वरुणस्य) [९४] श्रेष्ठ आचरण के कारण जो वरणीय = प्रशंसनीय या चाहने योग्य है, ऐसे उपासक का (अग्नेः)[९५] उत्तम ज्ञान वाले उपासक का (चक्षुः)[९६] दर्शक = मार्गदर्शक है। वह (द्यावा-पृथिवी-अन्तरिक्षम्) द्युलोक, पृथिवीलोक, आकाश आदि लोक-लोकान्तरों को (आ + अप्राः) रचकर और उनमें व्याप्त होकर धारण कर रहा है। वह (सूर्य्यः) सकल जगत् का उत्पादक और प्रकाशक है, (जगतः च तस्थुषः आत्मा)[९७] चेतन और

---

९३. **मित्रः**–'ञिमिदा-स्नेहने' धातु से औणादिक [४.१६४] 'क्त्र' प्रत्यय। स्नेह रखने वाला व्यक्ति। निरुक्त में इसकी निरुक्ति दी है–"**मित्रः प्रमीतेः त्रायते, सम्मिन्वानो द्रवतीति वा, मेदयतेर्वा।**" [१०.२१] = जो कष्टों, आपत्ति आदि से रक्षा करता है, जो स्नेहधारा से सींचता है, जो स्नेह से स्निग्ध रखता है।

९४. **वरुणः**–'वृञ्-वरणे' धातु से "**कृवृदारिभ्यः उनन्**" [उणादि ३.५३] सूत्र से 'उनन्' प्रत्यय। जो उत्तम आचरण के द्वारा वरणीय = प्रशंसनीय, चाहने योग्य है। "**वरुण धर्मणां पति**" [तै० ब्रा० ३.११.४.१] = जो धर्माचरण करने वालों का पति = प्रमुख है, वह वरुण कहलाता है।

९५. **अग्निः**–अग्नि अन्धकार और अपवित्रता का नाशक है और ज्ञान, प्रकाश और पवित्रता को करने वाला है, अतः वह ज्ञान का प्रतीक है। 'अगि-गतौ' धातु से औणादिक [४.५०] 'नि' प्रत्यय, नलोप। गति के ज्ञान, गमन और प्राप्ति, ये तीन अर्थ हैं। **अंगति जानाति इति अग्निः**' = जो ज्ञान प्राप्त करता है, जानता है, वह अग्नि है–ज्ञानी व्यक्ति।

९६. **चक्षुः**–'चक्षिङ्-दर्शने' धातु से "**चक्षेः सिच्च**" [उणादि २.११९] सूत्र से 'उसि' प्रत्यय और उसको 'शित्' होकर 'चक्षु' सिद्ध होता है। जैसे नेत्र प्राणियों को मार्गदर्शन करवाता है, उसी प्रकार परमात्मा सबका मार्गदर्शक है। यह भी परमात्मा का नाम है–"**यच्चक्षुः स बृहस्पतिः**" [गो०उ० ४.११३] "**चक्षुर्वै ब्रह्म**" [शत० १४.६.१०.८; गो०पू० २.१०]

९७. **आत्मा**–'अत-सातत्यगमने' धातु से "**सातिभ्यां मनिन् मनिणौ**" [उणा० ४.१५३] सूत्र से मनिण् प्रत्यय। निरुक्त व्युत्पत्ति करते हुए कहा है–"**आत्मा अततेर्वा, आप्तेर्वा, अपि वा आप्त इव स्याद् व्याप्तीभूत इति।**" [निरु० ३.१५] = सतत सक्रिय रहता है, सर्वत्र व्याप्त है, सबमें व्याप्तीभूत है। आत्मा जैसे शरीर का संचालक है, वैसे परमात्मा समस्त जड़-चेतन जगत् का संचालक है। यह परमात्मा का नाम है–"**आत्मा हि अयं प्रजापतिः**" [शत० ४.६.१.१; ११.५.९.१] "**आत्मनो अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम्**" [शत० १४.५.४.५]।

स्थावर जगत् का आत्मा है, उसमें व्याप्त होकर संचालन करने वाला है। (स्वाहा)[९८] मैं सत्य, मधुर, कोमल वाणी और हृदय से उस प्रभु का स्मरण और गुणगान करता हूँ।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।।४।।

[यजु० अ० ३६ । म० २४ ।।]

अर्थ—(तत्) वह मेरा उपास्य (चक्षुः) सबका मार्गदर्शक और सबका द्रष्टा, (देवहितम्)[९९] दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले विद्वानों का हितकारी है, (शुक्रम्)[१००] शुद्ध एवं ज्ञानस्वरूप, पवित्र एवं पवित्रकर्त्ता है, (पुरस्तात् उच्चरत्) सम्मुख उपस्थित हुआ है, आत्मा में उसका अनुभव हुआ है। उसको (शरदः शतं पश्येम) सौ वर्ष तक हम देखें, (शरदः शतं जीवेम) उसको देखते हुए सौ वर्ष तक जीयें, (शरदः शतं शृणुयाम) उसको सौ वर्ष तक सुनें, (शरदः शतं प्रब्रवाम) सौ वर्ष तक उसका

---

९८. **स्वाहा**—'स्वाहा' शब्द के अनेक अर्थ हैं। निरुक्तकार कहते हैं—"**स्वाहा इत्येतत् सु आहेति, स्वा वाग् आहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा।**" [निरु० ८.२०] जिस क्रिया के द्वारा सुन्दर, मधुर, कल्याणकर शब्द या वचन बोले जाते हैं; अपनी वाणी के द्वारा वही वचन बोलना जो हृदय में है; अपने ही पदार्थ को अपना कहना, दूसरे के पदार्थ में लोभ न करना; सुसंस्कृत हवि प्रदान करने की क्रिया को 'स्वाहा' कहते हैं। इस प्रकार सत्य-सुन्दर वाक्; सत्यबुद्धि, सत्यवाणी, सत्य-आचरणयुक्त क्रिया, त्याग एवं सुखकारी क्रिया, सुसंस्कृत हवि प्रदान करने की क्रिया, प्रशंसायुक्त वाणी आदि 'स्वाहा' क्रियाएं हैं। निघण्टु में वाक् का नाम स्वाहा है [१.११]।

९९. **देवहितम्**—'**देवेभ्यो हितम्**' = जो देवों के लिए हितकारी है। देव दिव्यगुण-कर्म-स्वभाव वाले विद्वानों, श्रेष्ठ व्यक्तियों को कहते हैं। परमात्मा सदा उनका हित करता है।

१००. **शुक्रम्**—'ईशुचिर्-पूतीभावे' धातु से "**ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०**" [उणादि २.२८] सूत्र से रन् प्रत्यय अथवा दीप्ति अर्थ वाली 'शुच्' धातु से औणादिक क्रन् प्रत्यय होकर 'शुक्र' शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार इसके अर्थ हैं—पवित्र एवं पवित्रकर्त्ता, शुद्ध, उज्ज्वल, ज्ञानस्वरूप आदि। यह ईश्वर का विशेषण है, यथा—**स पर्यगात् शुक्रमकायमव्रणम्०**" [यजु० ४०.८] आदि।

प्रवचन करें, (शरदः शतम् अदीनाः स्याम) उसी की उपासना से हम सौ वर्ष तक अदीन = स्वतन्त्र, स्वाभिमानी और समृद्ध बनें रहें (च) और (शरदः शतात् भूयः) सौ वर्षों से भी अधिक समय तक हम देखें, जीयें, सुनें, प्रवचन करें और स्वतन्त्र रहें। इस प्रकार हम प्रभु की उपासना करते हुए सौ वर्ष और उससे भी अधिक वर्षों तक जीयें और समर्थ रहें।[१०१]

गुरुमन्त्र (गायत्रीमन्त्र)

तदनन्तर गायत्री मन्त्र के उच्चारण और अर्थ विचार पूर्वक परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करें—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।। [यजु अ० ३६ । मं० ३ ।।]

अर्थ—(ओम्)[१०२] सबका रक्षक परमात्मा। सदा, सर्वत्र सबका

---

१०१. **अर्थसंगति**—इस मन्त्र में प्रथम वाक्य ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करता है। तदनन्तर आये वाक्यों के अर्थ की उसी के साथ संगति है। 'तत्' पद उस संगति को बतलाता है। अतः परमेश्वर के दर्शन आदि के साथ संगति लगाना ही युक्तिसंगत एवं व्याकरणसंगत है। जो कोई यह अर्थ करते हैं कि ''हम सौ वर्ष तक जीयें, सुनें' आदि वह अशुद्ध है, क्योंकि इस प्रकार का अर्थ देने वाला कोई वाक्य मन्त्र में नहीं है और इस प्रकार न पूर्व वाक्य से संगति जुड़ती है। परमेश्वर की उपासनापूर्वक सौ वर्ष जीने, सुनने आदि में सौ वर्ष की आयु की प्रार्थना स्वतः ही व्यक्त हो जाती है, अतः उसकी पृथक् से कामना करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इस मन्त्र से यह भी संकेतित है कि सौ वर्ष या उससे अधिक आयु की प्राप्ति,ईश्वरोपासनापूर्वक धर्म आदि का पालन करने वालों को ही होती है। यही इस मन्त्र का अर्थवैशिष्ट्य है।

१०२. **ओम्**—महर्षि दयानन्द तथा सभी शास्त्रकारों ने 'ओम्' को ईश्वर का सबसे मुख्य नाम माना है। ऐसा नाम, जिसमें सभी नाम और उनके अर्थ समाहित हो जाते हैं। इसकी इस प्रमुखता के कारण ही मन्त्रों के प्रारम्भ में 'ओम्' का उच्चारण किया जाता है। अ, उ और म् के योग से बने इस नाम में अकार, उकार, मकार से पृथक्-पृथक् नामों एवं गुणों का ग्रहण किया जाता है। महर्षि मनु कहते हैं कि यह नाम चारों वेदों का निचोड़ है। इसके जप से वेदाध्ययन का पुण्य मिलता है [मनु० २.७६, ७८] आदि। यही उपनिषदों में कहा है।

रक्षक होने से 'ओम्' यह परमात्मा का मुख्य नाम है, जिसके साथ सब नाम लग जाते हैं, जिससे ईश्वर के सब नामों का बोध होता है। (भूः)[१०३] सबका प्राण = जीवनस्वरूप, प्राणों से भी प्रिय, (भुवः) सब दुःखों से छुड़ाने वाला, (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और सबको सब सुखों की प्राप्ति कराने वाला है। (तत्) उस (सवितुः)[१०४] सकल जगत् के उत्पादक, प्रकाशक, परम ऐश्वर्यवान् (वरेण्यम्) कामना करने योग्य, अतिश्रेष्ठ (भर्गः)[१०५] शुद्ध, विज्ञानस्वरूप और अज्ञान, दोष-क्लेश आदि को भस्म करने वाले (देवस्य) दिव्यगुणों से युक्त, आनन्ददाता परमेश्वर का (धीमहि) हम ध्यान करते हैं, उसको हृदय में धारण करते हैं। (यः) जो वह धारण और ध्यान किया हुआ परमेश्वर (नः धियः) हमारी धारणावती बुद्धियों को (प्रचोदयात्) उत्तम गुण, कर्म, स्वभावों में प्रेरित करें।

समर्पण

पूर्वोक्त प्रकार से सब मन्त्रों से अर्थविचारपूर्वक ईश्वर की उत्तम

'ओम्' शब्द 'अव – रक्षणगतिकान्ति प्रीत्यादिषु' धातु से "**अवेष्टिलोपश्च**" [उणादि १.१४२] सूत्र 'मन्' प्रत्यय और प्रत्यय का टिलोप। धातु के उपधा को ऊठ होकर बनता है। '**अवति रक्षादिकं करोति इति ओम्**= जो रक्षा आदि करता है, वह ओम् है।

१०३. **भूः भुवः स्वः**--इन व्याहृतियों पर विस्तृत विवेचन व प्रमाण टिप्पणी संख्या ४१-४३ में द्रष्टव्य हैं।

१०४. **सवितुः**—'षू-प्रेरणे' 'षूङ्-प्राणिप्रसवे' 'षूङ्-प्राणिगर्भविमोचने' 'षुञ्-अभिषवे' 'षु-प्रसवैश्वर्ययोः' धातुओं से कर्त्ता में 'तृच्' प्रत्यय होने पर यह शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार ये सभी अर्थ सविता के होंगे—सबका प्रेरक, उत्पादक, सबका रक्षक, ऐश्वर्यवान् और ऐश्वर्यदाता प्रभु। यह ईश्वर का नाम है—**सविता सर्वस्य प्रसविता**" [निरु० १०.३१] सविता सबके उत्पादक को कहते हैं, वह परमात्मा है। "**प्रजापतिर्वै सविता**" [तां० १६.५.१७]= प्रजापति परमात्मा को सविता कहते हैं।

१०५. **भर्गः**—'भृजी-पाके' धातु से "**अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्यः कुश्च**" [उणादि ४.२१६] सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय, कुत्व होकर 'भर्गः'। "**भृञ्जति पापानि दुःखमूलानि यः सः**" = पापों और सब क्लेशों के मूल को भस्म करने वाला होने से ब्रह्म का नाम 'भर्गः' है।

प्रकार से उपासना करके निम्न वाक्य का उच्चारण करते हुए प्रभु को समर्पण[१०६] करें—

हे ईश्वर दयानिधे ! भवत्कृपयाऽनेन

जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः।

अर्थ—हे ईश्वर दयानिधे ! (भवत् कृपया)आपकी कृपा से (अनेन जप + उपासना + आदि कर्मणा)[१०७] हमारे द्वारा अनुष्ठित इस जप-उपासना आदि कर्म से (धर्म + अर्थ-काम-मोक्षाणां सिद्धि)[१०८] धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि (नः सद्यः भवेत्) हमें शीघ्र प्राप्त होवे।

नमस्कारमन्त्र

इसके पश्चात् निम्न मन्त्र से परमेश्वर को नमस्कार करें—

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च।।२।।

[यजु० अ० १६. । मंत्र ४१ ।]

अर्थ—(शम्भवाय)[१०९] मोक्षसुखस्वरूप और मोक्षसुख को देने वाले

---

१०६. **समर्पण**—अहंकार = अभिमान के रहते प्रभु की प्राप्ति नहीं होती। समर्पण से ही अहंकार नष्ट होता है। अतः पूर्ण श्रद्धा-भक्ति से ईश्वर को समर्पण करने का विधान है। यही समर्पण अग्निहोत्र में "**इदं न मम**" **और** "**स्वाहा**" प्रयोगों से व्यक्त है।

१०७. **जप**—जप से अभिप्राय केवल उच्चारण से न होकर अर्थचिन्तन से है। इसमें योगसूत्र का प्रमाण है— "**तज्जपः तदर्थभावनम्**" [योग द० १.१.२८] = 'ओंकार का जप उसके अर्थविचारपूर्वक करना चाहिये।' बिना अर्थविचार के जप अपूर्ण है।

१०८. **धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष**—न्याय और सत्य के अनुसार उत्तम आचरण करना, धर्म है। धर्मानुसार अर्थप्राप्ति करना,अर्थ है। धर्म और अर्थपूर्वक इच्छाओं को पूर्ण करना, या इष्ट भोगों का सेवन करना,काम है। सब दुःखों से छूटकर परमात्मा के आश्रय में आनन्द प्राप्त करना, मोक्ष है।

१०९. **शम्भवाय**—नमस्कार मन्त्र में ईश्वर के छह विशेषण दिये गये हैं। साधारणतः ये समानार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर इनमें अर्थभेद है, जो इस प्रकार है।

(च) और (मयोभवाय)[११०] उत्तमसुखस्वरूप तथा उत्तम ऐहिक सुखों को देने वाले परमेश्वर के लिए (नमः) नमस्कार हो, हम नमस्कार करते हैं। (शङ्कराय)[१११] मोक्षसुख को करने अर्थात् रचने तथा रच-रच कर देने वाले (च) और (मयस्कराय)[११२] उत्तम ऐहिक सुखों को करने अर्थात् रचने तथा रच-रच कर देने वाले परमेश्वर के लिए (नमः) नमस्कार हो। (शिवाय)[११३] क्लेशों-कष्टों को शान्त करके कल्याण करने वाले (च) और (शिवतराय)[११४] अत्यन्त कल्याण करने वाले परमेश्वर के लिए (नमः) बारम्बार नमस्कार हो। ऐसे प्रभु को हम बार-बार नमस्कार करते हैं।

इति सन्ध्योपासन विधिः

'शम्' पूर्वक 'भू-सत्तायाम्' धातु से अच् प्रत्यय होकर 'शम्भव' शब्द बनता है। चतुर्थी एकवचन में 'शम्भवाय।' **'शम्-सुखनाम''** [निघ० ३.६]= जो मोक्षसुखस्वरूप है, और उसको देने वाला है, उस परमेश्वर के लिए। **'शम् भवति अस्मात्, शम् भावयति वा।'**

११०. **मनोभवाय—**'मय' पूर्वक 'भू-सत्तायाम्' से अच् प्रत्यय। चतुर्थी एकवचन। **''मय-सुखनाम''** [निघ० ३.६] **'मयः सुखं भवति अस्मात्'**= जो उत्तमसुखस्वरूप है और उपासकों को ऐहिक सुख देने वाला है, उसके लिए।

१११. **शङ्कराय—**शम् पूर्वक 'डुकृञ्-करणे' धातु से **''कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु''** [अष्टा० ३.२.२०] सूत्र से 'टः'। **''यः सर्वेभ्यः सर्वेषां वा सुखं करोति''** = जो सबके लिए सुखों को उत्पन्न करता है और सबको सुखी करता है, उस परमेश्वर के लिए।

११२. **मयस्कराय—**'मय' पूर्वक 'डुकृञ्-करणे' धातु से 'टः'। **'यः सर्वेभ्यः सर्वेषां मयः सुखं करोति** = जो सबके लिए ऐहिक सुखों को उत्पन्न करता है और सबको ऐहिक सुखों से युक्त करता है, उस परमेश्वर के लिए।

११३. **शिवाय—**'शिव-कल्याणे' धातुं, चतुर्थी एकवचन। **''शिवम् सुखनाम''** [निघ० ३.६]= शिव सुख का नाम है। 'शो-तनूकरणे' से भी शिव बनता है। **'श्यति पापमिति'** = जो पापों या क्लेशों को शान्त करके कल्याण करता है और जो स्वयं कल्याण या मंगलस्वरूप है, उस परमेश्वर के लिए।

११४. **शिवतराय—**'शिव' प्रातिपदिक से अतिशय अर्थ में 'तरप्' प्रत्यय। पापों या क्लेशों का शमन करके अतिशय कल्याण करने वाले परमेश्वर के लिए नमस्कार हो।

दैनिक देवयज्ञ (अग्निहोत्र) विधि

"अग्निहोत्रं जुहयात् स्वर्गकामः" [मै०उ० ६.३६]

—स्वर्ग का अभिलाषी प्रतिदिन यज्ञों का अनुष्ठान करे।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः [मनु० २.१८]

—महायज्ञों और यज्ञों के अनुष्ठान से जीवन को ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाया जाता है।

अग्निहोत्र सम्बन्धी ज्ञातव्य बातें

(संक्षेप से)

देवयज्ञ—देव = परमात्मदेव की उपासना, देवों = विद्वानों की संगति उपदेश आदि द्वारा, देवों = भौतिक दिव्य पदार्थ अग्नि, जल, वायु आदि के शुद्ध्यर्थ आहुतियां देना, ये क्रियाएं जिस यज्ञ में होती हैं, उसका नाम 'देवयज्ञ' है।

अग्निहोत्र का अर्थ—देवयज्ञ का नाम अग्निहोत्र है। इसका अर्थ है—अग्नि = परमेश्वर के लिए अथवा अग्नि जल, वायु आदि की शुद्धि के लिए अग्नि में जो आहुतियां दी जाती हैं, उसका नाम 'अग्निहोत्र' है।

अग्निहोत्र का काल—अग्निहोत्र प्रतिदिन सायं-प्रातः करना चाहिये। सायं सन्ध्योपासना से पूर्व और प्रातः सन्ध्योपासना के पश्चात् करना चाहिये अर्थात् दोनों सन्धिवेलाओं में, सायं सूर्यास्त से पूर्व और प्रातः सूर्योदय से पूर्व करना चाहिये।

एक काल में यज्ञ—यदि किसी विशेष विवशतावश दोनों समय यज्ञ न कर सकें तो उस दिन एक काल में दोनों काल के मन्त्रों से आहुतियां देकर यज्ञ किया जा सकता है। यह आपत्कालीन विधान है।

यज्ञ कौन करे—यज्ञ एक उपासना तथा परोपकार का कर्म है। सभी समर्थ, पवित्र एवं श्रद्धालु आबालवृद्ध नर-नारी को यज्ञ करने का अधिकार है। जो स्वयं न कर सकें वे ऋत्विक् का वरण करके यज्ञानुष्ठान कर सकते हैं। गृहस्थ में स्त्री-पुरुष मिलकर यज्ञ करें। किसी विशेष विवशता के कारण कभी दोनों उपस्थित न हो सकें तो उस दिन मन्त्रों को दो-दो बार पढ़कर एक ही व्यक्ति आहुति देवे। यह आपत्कालीन विधान है।

यज्ञ के वस्त्र—स्वच्छ, पवित्र एवं सादगीपूर्ण वस्त्र। क्षौम एवं श्वेत वस्त्रों की परम्परा अधिक रही है,क्योंकि उनमें स्वच्छता, पवित्रता और सादगी रहती है। मलीनता का अंश शीघ्र दृष्टिगोचर हो जाता है।

यज्ञ का स्थान—शुद्ध-पवित्र, शान्त-एकान्त प्रदेश, जहां स्वच्छ वायु बहती हो, जो बाधा, उपद्रवरहित हो , अथवा यज्ञशाला।

यज्ञ का आसन—स्वच्छ-पवित्र और सुखद आसन, जिस पर देर तक व्यवधानरहित होकर बैठा जा सके। यह कुश, ऊन, कपास, रेशम व मृगचर्म का हो सकता है।

यज्ञ में बैठने की दिशा—यज्ञ में सभी के बैठने का स्थान निर्धारित है। यजमान, यजमानपत्नी, संस्कार्य व्यक्ति, उपस्थित जनों का स्थान कुण्ड़ के पशिचम में पूर्वाभिमुख है। होता का पशिचम में पूर्वाभिमुख, अध्वर्यु का उत्तर में दक्षिणाभिमुख, उद्गाता का पूर्व में पशिचमाभिमुख, और ब्रह्मा का दक्षिण में उत्तराभिमुख स्थान होता है।

न्यून या अधिक होम—प्रत्येक व्यक्ति, प्रतिसमय, न्यून से न्यून १६ आहुति दें। अधिक यज्ञ करना उसकी इच्छा पर निर्भर है। वह गायत्री आदि मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' लगाकर अथवा किसी वेद का पारायण-यज्ञ करके आहुति दे सकता है।

आहुतियों का परिमाण—घृत आदि की एक आहुति का परिमाण न्यून से न्यून ६ माशे है। मोहनभोग, सामग्री आदि होम द्रव्यों का

अधिक से अधिक परिमाण छटांक भर है।

यज्ञ का प्रयोजन एवं लाभ—वेदोक्त कर्त्तव्य का पालन, ईश्वरोपासना; मोक्ष की सिद्धि; आत्मिक सुख की प्राप्ति; विद्वानों के संग और उपदेश का लाभ; दान, परोपकार, पवित्रता आदि सद्‌गुणों के धारण की प्रेरणा; जल, वायु, अन्न, वनस्पति की शुद्धि, निर्मलता करना एवं उपयोगिता बढ़ाना; वर्षा-प्राप्ति, वर्षा से अन्न और प्राणियों की वृद्धि-समृद्धि; शुद्धि से रोगनाश , अशुद्धिनाश, कीटाणुनाश होकर नैरोग्य एवं आरोग्य की प्राप्ति; यज्ञीय प्रक्रिया, सुगन्ध एवं भस्म से रोगचिकित्सा; आध्यात्मिक एवं सद्‌भावपूर्ण वातावरण का निर्माण; यज्ञ में प्रतिज्ञा करके अवगुणों का त्याग करना—कराना; मन्त्रोच्चारण व वेदपारायण से वेद रक्षा आदि-आदि।

यज्ञानुष्ठान पूर्व की तैयारी

यज्ञकुण्ड—किसी धातु अथवा मिट्टी का। सोलह या बारह अंगुल लम्बा-चौड़ा, उतना ही गहरा, चौथाई तली वाला हो। जो साफ होना चाहिये।

घृत—परिमाण के अनुसार गर्म किया हुआ गाय का घृत। अभाव में भैंस का लिया जा सकता है।

सामग्री—सुगन्धित, पुष्टिकारक, मिष्ट और रोगनाशक पदार्थों से बनी सामग्री आहुति देने के लिए। उसमें घी मिला लेना चाहिये, जिससे वह सम्यक् प्रकार जले और उड़कर न बिखरे।

समिधाएं—पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम, चन्दन, बेल आदि वृक्षों की समिधाएं प्रयोग करें। ये मैली, कीड़ालगी, अपवित्र स्थानोत्पन्न न हों। धोकर सुखाई गयी हों तो अत्युत्तम है।

पात्र—घृतपात्र (आज्यस्थाली), सामग्रीपात्र (शाकल्यस्थाली), जलपात्र और आचमनी, घृताहुति के लिए स्रुवा १६ अंगुल लम्बी, प्रोक्षणीपात्र जलसेचन हेतु, मोहनभोग के लिए चरुस्थाली,

आसन—आवश्यकतानुसार।

प्रज्वालनसामग्री—दीप (दीपदानसहित), कपूर, रुई की बत्ती

घृतसिक्त, इनमें से कोई एक तथा माचिस व पंखा।

अन्य—चिमटा, तौलिया, यज्ञीय विधि की पुस्तकें, वेदि को अलंकृत करने की सामग्री-हल्दी, आटा, कुंकुम आदि। पल्लव, कलश, नारियल आदि। थैला या रस्सी, समिधाओं हेतु।

एकाग्रता—

उपर्युक्त सभी वस्तुएं जुटाकर यज्ञस्थल पर आसन ग्रहण करें और मन को शान्त, एकाग्र कर तथा यज्ञीय क्रियाओं में मग्न करके यज्ञानुष्ठान आरम्भ करें।

यज्ञ के प्रारम्भ में 'स्तुति-प्रार्थना-उपासना' मन्त्रों का पाठ करना चाहिये, क्योंकि ये अत्यन्त प्रासंगिक मन्त्र हैं और इनके अर्थपूर्वक उच्चारण से मन में एकाग्रता तथा यज्ञीय भावना की दृढ़ता आती है। महर्षि ने 'संस्कारविधि' के प्रारम्भ में इन मन्त्रों का उल्लेख किया है, जो यह इंगित करता है कि प्रत्येक वैदिक अनुष्ठान के प्रारम्भ में इनका विनियोग किया जा सकता है। महर्षि ने यह लिखा भी है कि ''सब संस्कारों के आदि में निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ और अर्थ... ध्यान लगाके करे।'' [सं० वि० प्रारम्भ में] इससे तीन संकेत मिलते हैं—१. संस्कार आदि वेदोक्त कर्मों के प्रारम्भ में इनका पाठ करना चाहिए। २. यज्ञ, संस्कार विधि के अन्तर्गत उक्त अनुष्ठान है, अतः उसमें भी इनका पाठ किया जाना उचित है। ३. बृहद्यज्ञ के मन्त्रों से पूर्व महर्षि ने स्वयं भी इनका उल्लेख किया है, अतः दैनिक यज्ञ में इनका विनियोग कर लेना चाहिए। इन्हीं कारणों से आज यज्ञों के प्रारम्भ में इनका प्रवचन भी हो गया है। मन्त्रों में आवृत्तिपूर्वक पठित **''कस्मै देवाय हविषा विधेम''** पद भी यज्ञीय वातावरण एवं भावना की ओर इंगित करते हैं।

ईश्वरस्तुति-प्रार्थना-उपासना मन्त्र

विधि—प्रत्येक यज्ञ, संस्कार, विशेष अनुष्ठान मांगलिक अवसर आदि के आरम्भ में इन मन्त्रों का श्रद्धा और भक्ति से अर्थसहित पाठ करें और इनके द्वारा ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना स्थिरचित्त होकर करें। अथवा, ''निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ और अर्थ द्वारा एक विद्वान् वा बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना स्थिरचित्त

होकर, परमात्मा में ध्यान लगाकर करे और सब लोग उसमें ध्यान लगाकर सुनें और विचारें।" [सं० वि० आरम्भ में]

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रं तन्न आ सुव ।।१।। यजु० अ० ३० । मं० ३ ।।

अर्थ—(देव सवितः)[११५] हे सब सुखों के दाता, ज्ञान के प्रकाशक, सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता एवं समग्र ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर! (नः) आप हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुणों, दुर्व्यसनों और दुःखों को (परा सुव) दूर कर दीजिए, और (यत्) जो (भद्रम्)[११६] कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव, सुख और पदार्थ हैं, (तत्) उसको (नः) हमें (आसुव) भलीभांति प्राप्त कराइये।।१।।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।२।।

[यजु० १३. । मंत्र ४ ।।]

अर्थ—(अग्रे) सृष्टि के उत्पन्न होने से पूर्व और सृष्टिरचना के आरम्भ में (हिरण्यगर्भः)[११७] स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाशयुक्त

---

११५. **देवः**—निरुक्त में देव शब्द की निरुक्ति दी है—"**देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा**" [७.१५]। सब सुखों का दाता, ज्ञान का प्रकाशक व प्रकाशस्वरूप होने से परमात्मा का नाम देव है। प्रजापति परमात्मा को देव कहते हैं—"**प्रजापतिस्त्रयस्त्रिंशः**" [शत० १२.६.१.३७] यही परमात्मा देव सर्वाधिक महाभाग्यशाली एवं केवल उपास्य है [नि० ७.१५]

११६. **भद्रम्**—'**भदि कल्याणे सुखे च**' धातु से औणादिक रक् प्रत्यय के योग से 'भद्र' शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार जो वास्तव में कल्याण-कारक और सुखकारक कर्म है, वे भद्रकर्म कहलाते हैं। शतपथ में यही बात कही है—"**भद्रम्....कल्याणमेवैतत्**" [४.६.९.१९]

११७. **हिरण्यगर्भः**—हिरण्यगर्भ परमपिता परमात्मा का नाम है—"**प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः**" [शत० ६.२.२.५]। शतपथ में ही कहा है—"**ज्योतिर्हि हिरण्यम्**" [शत० ४.३.४.२१] ज्योति का नाम हिरण्य है। इस प्रकार हिरण्यगर्भ की व्युत्पत्ति बनेगी—"**हिरण्यानि सूर्यादितेजांसि गर्भे यस्य सः परमात्मा**" = सूर्य आदि तेजोमय लोक जिसके अन्दर स्थित हैं, वह परमात्मा। अथवा, "**हिरण्यं ज्योतिर्विज्ञानं गर्भः स्वरूपं यस्य सः**

सूर्य, चन्द्र, तारे ग्रह-उपग्रह आदि पदार्थों को उत्पन्न करके अपने अन्दर धारण कर रखा है, वह परमात्मा (समवर्तत) सम्यक् रूप से वर्तमान था। वही (भूतस्य) उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का (जातः) प्रसिद्ध (पतिः) स्वामी (एकः) केवल अकेला एक ही (आसीत्) था। (सः) उसी परमात्मा ने (इमाम्) इस (पृथिवीम्) पृथ्वीलोक (उत) और (द्याम्) द्युलोक आदि को (दाधार) धारण किया हुआ है, हम लोग उस (कस्मै)[११८] सुखस्वरूप और प्रजापालक = सृष्टिपालक (देवाय) शुद्ध एवं प्रकाश-दिव्य-सामर्थ्ययुक्त परमात्मा की प्राप्ति लिए (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास व हव्य पदार्थों द्वारा (विधेम) विशेष भक्ति करते हैं।।२।।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।३।।

यजुः अ० २५ । मंत्र १३ ।।

अर्थ–(यः) जो परमात्मा (आत्मदाः) आत्मज्ञान का दाता (बलदाः) शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल का देने वाला है, (यस्य) जिसकी (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (उपासते) उपासना करते हैं (यस्य) जिसकी(प्रशिषम्)[११९] शासन, व्यवस्था, शिक्षा को सभी मानते हैं, (यस्य छाया) जिसका आश्रय ही (अमृतम्)[१२०] मोक्षसुखदायक है, और

परमेश्वरः" = ज्ञान-विज्ञान से प्रकाशस्वरूप परमात्मा को 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं। परमात्मा सदा ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित रहता है और उसका प्रकाशक भी है, विद्यादान द्वारा।

११८. **कस्मै**–इस पद का जो लोग 'किसके लिए' अर्थ करते हैं वे मन्त्रार्थ ज्ञान एवं व्याकरण से अनभिज्ञ हैं। यहां यह अर्थ कदापि संगत नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य के अनुसार 'कः' के दो अर्थ हैं–१. सुख, २. परमात्मा। प्रमाण है–"**कः सुखः**" [निरु० १०.२२], "**कः वै प्रजापतिः**" [ऐत० ३.२१] **कस्मै 'किम्-क' का चतुर्थी एकवचन रूप है। इस प्रकार इसका अर्थ बनेगा 'सुखस्वरूप परमपिता परमात्मा के लिए' मन्त्र के पूर्वभाग में वर्णित बातों से इसी अर्थ की संगति लगती है।**

११९. **प्रशिषम्**–प्र पूर्वक 'शासु-अनुशिष्टौ' धातु से क्विप् प्रत्यय के योग से यह पद बनता है, अतः इसका अर्थ अनुशासन, व्यवस्था आदि हैं।

१२०. **अमृतम्**–मृत का विपरीतार्थक अमृत है, जिसका अर्थ है नाशरहित

(यस्य) जिसको न मानना अर्थात् भक्ति न करना (मृत्युः) मृत्यु आदि कष्ट का हेतु है, हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप एवं प्रजापालक= सृष्टिपालक (देवाय) शुद्ध एवं प्रकाशस्वरूप, दिव्यसामर्थ्ययुक्त परमात्मा की प्राप्ति लिए (हविषा) योगाभ्यास एवं हव्यपदार्थों द्वारा (विधेम) विशेष भक्ति करते हैं।।३।।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।४।।

यजु, अ० २३ । मंत्र १३ ।।

अर्थ–(यः) जो (प्राणतः) प्राणधारी चेतन और (निमिषतः) अप्राणधारी जड़ (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपनी अनन्त महिमा के कारण (एकः इत्) एक अकेला ही (राजा) सर्वोपरि विराजमान राजा (बभूव) हुआ है, (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदे चतुष्पदे) दो पैरों वाले मनुष्य आदि और चार पैरों वाले पशु आदि प्राणियों की (ईशे)[१२१] रचना करता है और उनका सर्वापरि स्वामी है, हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप और सृष्टिपालक (देवाय) शुद्ध एवं प्रकाशस्वरूप, दिव्यसामर्थ्ययुक्त परमात्मा की प्राप्ति के लिए (हविषा) योगाभ्यास एवं हव्यपदार्थों द्वारा (विधेम) विशेष भक्ति करते हैं।।४।।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।५।।

यजुः अ० ३२ । मंत्र ६ ।।

अर्थ–(येन) जिस परमात्मा ने (उग्रा) तेजोमय (द्यौः) द्युलोक में स्थित सूर्य आदि को (च) और (पृथिवी) पृथिवी को (दृढा) धारण कर

मोक्षानन्द। "**अमृते = अमरणधर्माणौ**" [नि० २.२०] परमात्मा का नाम भी अमृत है। जीव मोक्षावस्था में परमात्मा के आश्रय में ही रहता है, वह उसका अमृतसेवन करना है–"**प्रजापतिर्वा अमृतः**" [शत० ६.३.१.१७], **यदमृतं तद्ब्रह्म**" [गो०पू०३.४]।

१२१. **ईशे**–'ईश-ऐश्वर्ये' धातु का लटलकार का प्रयोग है जिसका अर्थ '**ऐश्वर्ययुक्त**' होता है। ईश्वर संसार का निर्माण करता है और उसका सर्वोपरि स्वामी है, अतः वह महान् ऐश्वर्यशाली है।

रखा है, (येन) जिसने (स्वः) समस्त सुखों को (स्तभितम्) धारण कर रखा है, (येन) जिसने (नाकः)[१२२] मोक्ष को धारण कर रखा है, (य) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में स्थित (रजसः)[१२३] समस्त लोक-लोकान्तरों आदि का (विमानः)[१२४] विशेष नियम से निर्माता, धारणकर्त्ता, व्यवस्थापक एवं व्याप्तकर्त्ता है, हम लोग उस (देवाय) शुद्ध एवं प्रकाशस्वरूप दिव्यसामर्थ्ययुक्त परमात्मा की प्राप्ति के लिए (हविषा) योगाभ्यास एवं हव्यपदार्थों द्वारा (विधेम) विशेष भक्ति करते हैं।।५।।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।।६।

ऋ० मं० १० । सू० १२१ । मं० १० ।।

अर्थ—(प्रजापते)[१२५] हे सब प्रजाओं के पालक स्वामी परमात्मन्! (त्वत् अन्यः) आपसे भिन्न दूसरा कोई (ता एतानि) उन और इन अर्थात् दूर और पास स्थित (विश्वा) समस्त (जातानि) उत्पन्न हुए जड़-चेतन पदार्थों को (न) नहीं (परि बभूव) अतिक्रान्त = वशीभूत कर सकता, केवल आप ही

---

१२२. **नाकः**—"**कम् सुखनाम**" [निघं० ३.६] '**न कम् = अकम्, न अकम्** = नाकम्, नाकः" अर्थात् कम् सुख को कहते हैं। जहां सुख नहीं, वह 'अकः' है, वहाँ दुःख है। और जहां दुःख नितान्त नहीं है, सुख ही सुख है, वह 'नाकः' कहलाता है। वह मोक्ष है। संहिताओं में कहा है— **स्वर्गो वै लोको नाकः**" [तै०सं० ५.३.३.५; ५.३.७.१]।

१२३. **रजसः**—वैदिक साहित्य में यह पद किसी लोकविशेष और सभी लोक-लोकान्तरों, दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है— **लोकाः रजांसि उच्यन्ते**" [निरु० ४.१९], "**इमे वै लोकाः रजांसि**" [शत० ६.३.१.१८]।

१२४. **विमानः**—वि पूर्वक 'माङ् माने शब्दे च' धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से यह पद बनता है। इसकी व्युत्पत्ति होगी—१. '**विविधं मानं यस्य सः**' = जिसके विविध मानदण्ड, व्यवस्था आदि हैं, और २. '**विगतं मान परिमाणं यस्य**" = जिसका मान या परिमाण कोई नहीं है अर्थात् जो अनन्त और सर्वत्र व्यापक है।

१२५. **प्रजापतिः**—प्रजा और सृष्टि के पालक के प्रजापति कहते हैं। यह परमात्मा का नाम है। "**प्रजापतिः पाता वा पालयिता वा**" [नि० १०.४१], "**ब्रह्म वै प्रजापतिः**" [शत० १३.६.२.८] "**प्रजापतिः धाता**" [शत० ९.५.१.३८] = सृष्टि को धारण करने वाले परमात्मा का नाम प्रजापति है।

इस जगत् को वशीभूत रखने में समर्थ हैं। (यत्कामाः) जिस-जिस पदार्थ की कामना वाले हम लोग (ते) आपकी (जुहुमः) योगाभ्यास, भक्ति और हव्यपदार्थों से स्तुति-प्रार्थना-उपासना करें (तत्) उस-उस पदार्थ की कामना (नः) हमारी (अस्तु) सिद्ध होवे, जिससे कि (वयम्) हम उपासक लोग (रयीणाम्)[१२६] धन-ऐश्वर्यों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें।।।६।।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।।७।।

यजु० अ० ३२ । मन्त्र १० ।।

अर्थ—(सः) वह **परमात्मा** (नः) हमारा (बन्धुः) भाई और सम्बन्धी के समान सहायक है, (जनिता) सकल जगत् का उत्पादक है, (सः) वही (विधाता) सब कामों को पूर्ण करने वाला है। वह (विश्वा) समस्त (भुवनानि) लोक-लोकान्तरों को (धामानि) स्थान-स्थान को (वेद) जानता है। यह वही परमात्मा है (यत्र) जिसके आश्रय में योगीजन (अमृतम् आनशानाः) मोक्ष को प्राप्त करते हुए, मोक्षानन्द का सेवन करते हुए (तृतीये धामन्)[१२७] तीसरे धाम अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के आश्रय से प्राप्त मोक्षानन्द में (अधि-ऐरयन्त) स्वेच्छापूर्वक विचरण करते हैं। उसी परमात्मा की हम भक्ति करते हैं।।७।।

---

१२६. **रयीणाम्**—रयि शब्द के धन, बल, पुष्टि, पशु आदि अनेक अर्थ होते हैं, यथा—"**रयिरिति धननाम**" [निघं०२.१०; ४.१७], "**वीर्यं वै रयिः**" [शत० १३.४.२.१३], "**पुष्टं वै रयिः**" [शत० २.३.४.१३], "**पशवो वै रयिः**" [तै० १.४.४.९]। इस प्रकार सभी प्रकार का धन-ऐश्वर्य 'रयि' पद से अभिप्रेत है।

१२७. **तृतीये धामन्**—तृतीय धाम का अर्थ महर्षि दयानन्द ने मोक्ष किया है। वे आर्याभिविनय में लिखते हैं—"एक-स्थूल जगत् पृथिव्यादि, दूसरे—सूक्ष्म आदिकारण प्रकृति से भिन्न, तीसरे—सर्वदोषरहित अनन्तानन्दस्वरूप परब्रह्म धाम में" [२.६.३२.१०]। इसी को ऋग्वेद में विष्णु = व्यापक परमात्मा का 'परमपद' कहा गया है—"**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**" [ऋक् १.२२.२०] = व्यापक परमात्मा के उस परमपद = मोक्ष को सदा ज्ञानी-योगी जन ही प्राप्त करते हैं।

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम ।।८।।

[यजु० अ०.४० । मन्त्र १६ ।।]

अर्थ–(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप, सन्मार्गप्रदर्शक (देव) दिव्यसामर्थ्ययुक्त परमात्मन्! (अस्मान्) हम को (राये) ज्ञान-विज्ञान, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति कराने के लिए (सुपथा नय) धर्मयुक्त, कल्याणकारी मार्ग से ले चल। आप (विश्वानि वयुनानि) समस्त ज्ञानों और कर्मों को (विद्वान्) जानने वाले हैं। (अस्मत्) हम से (जुहुराणम् एनः) कुटिलतायुक्त पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिये। इस हेतु से हम (ते) आपकी (भूयिष्ठां नमउक्तिम्)[१२८] विविध प्रकार की और अधिकाधिक स्तुति-प्रार्थना-उपासना सत्कार व नम्रतापूर्वक (विधेम) करते हैं।।८।।

दैनिक अग्निहोत्र विधि

आचमन-क्रिया

आचमन-विधि–अग्निहोत्र के प्रारम्भ में, यज्ञ में सम्मिलित सभी व्यक्ति, अपने-अपने जलपात्र से दाहिने हाथ की हथेली में थोड़ा जल लेकर, निम्न मन्त्रों से तीन आचमन करें।

दाहिनी हथेली में इतना जल ग्रहण करें जो कण्ठ के नीचे हृदयप्रदेश तक पहुँचे। न अधिक और न कम जल हो। आचमन ब्रह्मतीर्थ (अंगूठे के मूल भाग और मध्यभाग) से करना चाहिये। आचमन करने के पश्चात् दाहिने हाथ को स्वच्छ जल से धो लें।

आचमन मन्त्र–

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ।।१।। इससे पहला आचमन करें।
ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ।।२।। इससे दूसरा,
ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ।। इससे तीसरा आचमन करें।

[तै० आ० प्र० १०, अनु० ३२, ३५]
[तुलना आश्व० गृ० १, २४.१२, २१, २२]

---

१२८. **नम उक्तिम्**–नमस्पूर्वक प्रशंसोक्ति को 'नम उक्ति' कहा जाता है। नमः

मन्त्रार्थ—(ओम्) हे सर्वरक्षक (अमृत) अमर परमेश्वर! आप (उपस्तरणम् असि)[१२९] बिछौना अर्थात् सब जगत् के आधार और आश्रय हो, (स्वाहा)[१३०] यह सत्यवचन मैं सत्यनिष्ठापूर्वक मानकर कहता हूँ और

के अनेक अर्थ होते हैं—नमन, पूजा, सत्कार, अन्न, यज्ञ आदि। इन भावों के साथ जो ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना की जाती है, वह 'नम उक्ति' कहलाती है।

१२९. **उपस्तरणम्**—इन मन्त्रों में आलंकारिक शैली में ईश्वर की स्तुति एवं प्रार्थना है। उपस्तरण का अर्थ 'बिछौना' होता है। बिछौना जैसे आधार होता है, आश्रय बनता है, उस पर बैठकर व्यक्ति शान्ति एवं निश्चिन्तता का अनुभव करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी सम्पूर्ण जगत् का आधार है, आश्रय है। उसके आश्रय में स्थित उपासकों को शान्ति, सुख एवं निश्चिन्तता प्राप्त होती है।

१३०. **स्वाहा**—'स्वाहा' पद विविध अर्थों एवं विस्तृत व्याख्या-सापेक्ष है। याज्ञिक परम्परा के अनुसार, अग्निहोत्र में 'स्वाहा' पद को मन्त्रान्त में जोड़कर उच्चारित करके आहुतियां प्रदान की जाती है। स्वाहाकार के बिना आहुति देना, न देने के समान है, ऐसा ब्राह्मणग्रन्थ मानते हैं—"**अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकारः** [शत० १.५.३.१३]= यज्ञ के मन्त्रों का अन्त स्वाहा के उच्चारण से होता है। "**यज्ञो वै स्वाहाकारः**" [शत० ३.३.२.७]= यज्ञ में मन्त्र स्वाहा के उच्चारणपूर्वक बोले जाते हैं। "**अहुतमिवैतद् यद् अस्वाहाकृतम्**" [शत० ४.५.२.१७]= 'स्वाहा' पद के उच्चारण के बिना जो आहुति दी जाती हे, वह न देने के सदृश है। ऋग्वेद में भी यही भाव वर्णित है—"**अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः**" [ऋक्० १०.११०.११] "**अस्य होतुः प्रदिशि ऋतस्य वाच्यास्ये स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः, इति यजन्ति।**" [नि० ८.२०] अर्थात्—'इस यज्ञ के योग्य उत्तम स्थान में, इस यज्ञीय अग्नि के मुख में स्वाहापूर्वक डाली गयी हवि को देव ग्रहण करें' इस प्रकार स्वाहापूर्वक यज्ञ करते हैं।

स्वाहा के अनेक अर्थ हैं—सत्यवाक्, सत्यक्रिया, सुष्ठुक्रिया, दानक्रिया, उत्तम वाणी, उत्तम रीति, सत्यविद्या आदि। निरुक्त में स्वाहा की निरुक्ति दी है—"**स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा, स्वा वाग् आहेति वा, स्वं प्राहेतिवा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीतिवा**" [८.२०] अर्थात्—मधुर, कल्याणकारी प्रिय वचन कहा; सत्यभाषण किया, जो आत्मा में है वही वचन कहना; अपने पदार्थ को ही अपना कहना; सामग्री आदि पदार्थों को भलीभांति शुद्ध-संस्कृत करके आहुति देना ये स्वाहा के अर्थ हैं। संक्षेप में 'सत्यनिष्ठापूर्वक त्याग व समर्पण की भावना और हवि' का प्रतीक है स्वाहा शब्द।

सुष्ठुक्रिया आचमन के सदृश आपको अपने अन्तःकरण में ग्रहण करता हूँ।।१।।

(ओम्) हे सर्वरक्षक (अमृत) अविनाशिस्वरूप, अजर परेमश्वर! आप (अपिधानम् असि)[१३१] हमारे आच्छादक वस्त्र के समान अर्थात् सदा-सर्वदा सब ओर से रक्षक हो, (स्वाहा) यह सत्यवचन मैं सत्यनिष्ठापूर्वक मानकर कहता हूँ और सुष्ठुक्रिया आचमन के सदृश आपको अपने अन्तःकरण में ग्रहण करता हूँ।।२।।

(ओम्) हे सर्वरक्षक ईश्वर! (सत्यम्) सत्याचरण (यशः) यश एवं प्रतिष्ठा (श्रीः)[१३२] विजयलक्ष्मी, शोभा [= शोभन व्यवहार एवं आत्मगौरव] (श्रीः) धन-ऐश्वर्य (मयि श्रयताम्) मुझमें स्थित हों, (स्वाहा) यह मैं सत्यनिष्ठापूर्वक प्रार्थना करता हूँ और सुष्ठुक्रिया आचमन के सदृश आपको अपने अन्तःकरण में ग्रहण करता हूँ।

अंगस्पर्श क्रिया

अंगस्पर्श विधि—बाईं हथेली में थोड़ा जल लेकर, दाहिने हाथ की

---

१३१. **अपिधानम्**—इसके अर्थ हैं—आच्छादक, आवरण, ओढ़ना आदि। यहाँ भी आलंकारिक वर्णन है। जिस प्रकार आवरण में कोई वस्तु या व्यक्ति सब ओर से सुरक्षित हो जाता है, उसी प्रकार उपासक भी अपने सब ओर परमात्मा को अनुभव कर उससे स्वयं को सुरक्षित अनुभव करता है। इसमें ईश्वरीय सर्वव्यापकता एवं सर्वतः सुरक्षकता का भाव निहित है।

१३२. **श्रीः**—श्री शब्द का इस मन्त्र में दो बार प्रयोग हुआ है। इसके साहित्यिक एवं व्यावहारिक अनेक अर्थ हैं। दो बार इसके प्रयोग से विशेष अभिप्राय यह ग्रहण किया जा सकता है कि एक से जीवन सम्बन्धी सद्गुणों का ग्रहण है और दूसरे से बाह्य धनैश्वर्य आदि सुखों का ग्रहण है। दोनों के सम्यक् मेल से ही वास्तविक सुख-शान्ति प्राप्त हो सकते हैं। श्री के विभिन्न अर्थ निम्न प्रकार हैं—शोभा, कान्ति, सेवा, विजयलक्ष्मी, प्रतिष्ठा, गौरव, समृद्धि, सौभाग्य, श्रेष्ठता, कोमलता, मधुरता, सुन्दरता, धन, ऐश्वर्य, सम्पत्ति, राज्यलक्ष्मी, विजयलक्ष्मी, शक्ति आदि। मन्त्रार्थ में इन सभी उत्तम गुणों और ऐश्वर्यों का ग्रहण हो सकता है।

उपासक परमात्मा से इन गुणों एवं ऐश्वर्यों की प्रार्थना करता है। इसका यह अभिप्राय है कि भगवान् से प्रार्थना के साथ वह इनकी प्राप्ति के लिए संकल्प और श्रम, धर्मानुसार करके उन्हें अर्जित करता है।

मध्यमा और अनामिका अंगुलियों को मिलाकर, उनसे जलस्पर्श करके मन्त्रोक्त अंगों का, पहले दायां और फिर बायां भाग निम्न छह मन्त्रों से स्पर्श करें, सातवें से सब अंगों का मार्जन (= छिड़काव) करें—

अंगस्पर्श मन्त्र—

ओं वाङ् मे आस्येऽस्तु ।।१।। इससे मुख का स्पर्श करें,
ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु ।।२।। इससे नासिका के दोनों भाग,
ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ।।३।। इससे दोनों आँखें,
ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ।।४।। इससे दोनों कान,
ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ।।५।। इससे दोनों भुजाएं,
ओम् ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु ।।६।। इससे दोनों जंघाएं,
ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु[१३३] ।।७।।
इससे सारे शरीर पर जल का मार्जन करें।

[तुलनीय तै० आ० ७.६३; पा०गृ०.सू० १.३.२५]

मन्त्रार्थ—

(ओम्) हे रक्षक परमेश्वर! मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि (मे) मेरे (आस्ये) मुख में (वाक्) वाक् इन्द्रिय (अस्तु) पूर्ण आयुपर्यन्त स्वास्थ्य एवं सामर्थ्य सहित विद्यमान रहे ।।१।।

(ओम्) हे रक्षक परमेश्वर! (मे नसोः) मेरे दोनों नासिका भागों में (प्राणः अस्तु) प्राणशक्ति पूर्ण आयुपर्यन्त स्वास्थ्य एवं सामर्थ्यसहित विद्यमान रहे ।।२।।

---

१३३. ये मन्त्र यथावत् रूप से अभी तक किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुए हैं। 'ओम्' और 'अस्तु' पदों से रहित किंचित् पाठान्तर के साथ ये कई ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। तुलना के लिए उद्धृत हैं—

"**आचम्य प्राणान् संमृशति, वाङ् मे आस्ये, नसोः प्राणः, अक्ष्णोश्चक्षुः, कर्णयोः श्रोत्रम्, बाह्वोर्बलम्, ऊर्वोरोजः, अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह, इति।**" [पा०गृ०सू० १.३.२५]

वाङ् म आसन्। नसोः प्राणः। अक्ष्णोश्चक्षुः। कर्णयोः श्रोत्रम्। बाह्वोर्बलम्। ऊर्वोरोजः। अरिष्टा विश्वान्यंगानि तनूः। तनूर्वा मे सह नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः, इति।" [तै०आ० ७.७३]

(ओम्) हे रक्षक परमेश्वर! (मे अक्ष्णोः) मेरी दोनों आंखों में (चक्षुः अस्तु) दृष्टिशक्ति पूर्ण आयुपर्यन्त स्वास्थ्य एवं सामर्थ्यसहित विद्यमान रहे।।३।।

(ओम्) हे रक्षक परमेश्वर! (मे कर्णयोः) मेरे दोनों कानों में (श्रोत्रम् अस्तु) पूर्ण आयुपर्यन्त सुनने की शक्ति स्वास्थ्य एवं सामर्थ्यसहित विद्यमान रहे।।४।।

(ओम्) हे रक्षक परमेश्वर!(मे बाह्वोः) मेरी भुजाओं में (बलम् अस्तु) पूर्ण आयुपर्यन्त बल विद्यमान रहे।।५।।

(ओम्) हे रक्षक परमेश्वर! (मे ऊर्वोः) मेरी जंघाओं में (ओजः अस्तु) बल-पराक्रम सहित सामर्थ्य पूर्ण आयुपर्यन्त विद्यमान रहे।।६।।

(ओम्) हे रक्षक परमेश्वर! (मे) मेरा (तनूः) शरीर और (अंगानि) अंग-प्रत्यंग (अरिष्टानि) रोग एवं दोष रहित बने रहें, ये अंग-प्रत्यंग (मे तन्वा सह) मेरे शरीर के साथ सम्यक् प्रकार संयुक्त हुए (सन्तु) सामर्थ्यसहित विद्यमान रहें।।७।।

अग्न्याधान क्रिया

अग्नि-ज्वालन विधि—निम्न मन्त्र का उच्चारण करके पहले से प्रज्वलित दीपक से अथवा दियासलाई से कपूर, घृतसिक्त समिधा अथवा घृतसिक्त रूई को प्रज्वलित करें—

अग्नि-ज्वालन-मन्त्र—

ओम् भूर्भुवः स्वः।। [गो०गृ०सू० १.१.११]

मन्त्रार्थ—(ओम्) हे सर्वरक्षक परमेश्वर! आप (भूः)[१३४] सबके उत्पादक, प्राणाधार (भुवः) सब दुःखों को दूर करने वाले (स्वः) सुखस्वरूप एवं सुखदाता हैं। आपकी कृपा से मेरा यह अनुष्ठान सफल होवे। अथवा, हे ईश्वर! आप भूः= सत्, भुवः= चित्, स्वः= आनन्दस्वरूप हैं। आपकी कृपा से यह यज्ञीय अग्नि भूः= पृथिवीलोक में,

---

१३४. **तीन महाव्याहृतियां**—भूः, भुवः, स्वः इन तीन महाव्याहृतियों की शास्त्रों में विशेष महिमा वर्णित हुई है और अनेक अर्थ दिये गये हैं। शाब्दिक अर्थ एवं प्रतीकात्मक रूप में इनके निम्न अर्थ मिलते हैं—

भुवः = अन्तरिक्ष में, स्वः = द्युलोक में विस्तीर्ण होकर लोकोपकारक सिद्ध होवे।

अग्न्याधान विधि—पूर्व मन्त्र से जलाई गई अग्नि को, निम्न मन्त्र का अर्थविचारसहित उच्चारण करने करने के अनन्तर, यज्ञकुण्ड में स्थापित करे—

अग्न्याधान मन्त्र—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ।।१।।

यजु० अ० ३ । मं० ५ ।।

मन्त्रार्थ—(ओम्) हे सर्वरक्षक (भूः) सबके उत्पादक और प्राणाधार (भुवः) दुःखविनाशक (स्वः) सुखस्वरूप एवं सुखप्रदाता परमेश्वर! आपकी कृपा से मैं (भूम्ना)[१३५] महत्ता या गरिमा में (द्यौः इव) द्युलोक के समान (वरिम्णा)[१३६] श्रेष्ठता या विस्तार में (पृथिवी इव) पृथिवी लोक के

भूः	**भुवः**	**स्वः**
१. उत्पादक प्रभु	दुःखहर्त्ता प्रभु	सुखदाता प्रभु
२. सत्	चित्	आनन्द
३. पृथिवीलोक	अन्तरिक्षलोक	द्युलोक
४. प्राण	अपान	व्यान
५. अग्नि	वायु	आदित्य
६. ऋक्	यजुः	साम
७. ब्रह्म	क्षत्र	वैश्य
८. आत्मा	प्रजा	पशु
९. शरीर	मन	वाणी
१०. ज्ञान	कर्म	उपासना, आदि
११. सत्व	रजस्	तमस्

१३५. **भूम्ना**—बहु प्रातिपदिक से 'इमनिच्' प्रत्यय। "**बहोर्लोपो भू च बहोः**" [अष्टा० ४.१५८] सूत्र बहु को भू आदेश, इलोप होकर 'भूमन्' शब्द बनता है। **बहोर्भावः भूमा, तेन भूम्ना** = बहुत्व = गुरुत्व का भाव जिसमें है, वह भूमा, उससे 'भूम्ना'। इसका गरिमा या महत्ता इसके अर्थ होंगे।

१३६. **वरिम्णा—'उरोर्भावः वरिमा, तेन वरिम्णा।' "प्रियस्थिरस्फिरोरु०"** [अष्टा० ६.४.१५७] सूत्र से उरु को 'वर्' आदेश। इसका अर्थ है श्रेष्ठता या बहुता।

समान हो जाऊं। (देवयजनि पृथिवि)[१३७] देवयज्ञ की आधारभूमि पृथिवि! (तस्याः ते पृष्ठे) उस तुझ भूमि की पीठ= तल पर (अन्नादम् अग्निम्) हव्यान्न= हव्य द्रव्यों का भक्षण= पाचन करने वाली यज्ञीय अग्नि को (अन्नाद्याय)[१३८] भक्षणीय अन्न एवं धर्मानुकूल भोगों की प्राप्ति के लिए तथा भक्षण सामर्थ्य और भोग सामर्थ्य प्राप्ति के लिए (आ दधे) यज्ञकुण्ड में स्थापित करता हूँ—अग्न्याधान करता हूँ।

अग्नि समिन्धन विधि—निम्न मन्त्र का अर्थविचारपूर्वक उच्चारण करने के उपरान्त, यज्ञकुण्ड में स्थापित अग्नि पर, कपूर, छोटी-छोटी समिधाएं रखकर अथवा घृत डालकर पंखे से अग्नि को प्रदीप्त करे—

ओं उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सँ सृजेथामयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थे ऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ।।२।।

यजु० अ० १५ । मन्त्र ५४ ।।

मन्त्रार्थ—(ओम्) मैं सर्वरक्षक परमेश्वर का स्मरण करता हुआ यह कामना करता हूँ कि (अग्ने) हे यज्ञाग्ने! (उद्बुध्यस्व) तू भलीभांति उद्दीप्त हो, और (प्रतिजागृहि) प्रत्येक समिधा को प्रज्वलित करती हुई जागृत= पर्याप्त ज्वालामयी हो जा। (त्वम्) तू (च) और (अयम्) यह यजमान (इष्टापूर्ते)[१३९] इष्ट और पूर्त्त कर्मों को (संसृजेथाम्) मिलकर सम्पादित को। (अस्मिन् अधि-उत्तरस्मिन् सधस्थे)[१४०] इस अति

---

१३७. **देवयजनि**—"**देवाः यजन्ति यस्यां सा पृथिवी** = विद्वान् लोग जहाँ यज्ञ करते हैं, वह पृथिवी। अथवा, '**देवाः इज्यन्ते यस्यां सा**' = देवों का यजन किया जाता है जिसमें, वह देवयज्ञ की आधारभूमि पृथिवी। शतपथ में भी कहा है—"**इयं वै पृथिवी देवी देवयजनी**" [शत० ३.२.२.२०]= यह पृथिवी देवी देवयजनी= देवयज्ञ की आधारभूमि है।

१३८. **अन्नाद्याय**—'**अन्नं च तद् अद्यं च इति अन्नाद्याम्**' = अन्न आदि भोग-ऐश्वर्य और उनको भोगने का सामर्थ्य। इस प्रकार इस पद से दो भाव अभिप्रेत हैं।

१३९. **इष्टापूर्त्त**—इष्टकर्म हैं—श्रुतिविहित यज्ञ आदि, ईश्वरोपासना, विद्वत्संगति-सत्कार, विद्यादान, सत्याचरण, तपस्या, वेदरक्षा, आदि। पूर्तकर्म—अन्नदान, धनदान, धर्मशाला-कूप-तालाब-बाग आदि लोकोपकारक स्थानों का निर्माण कराना, यज्ञशाला बनवाना आदि।

१४०. **सधस्थे**—सह पूर्वक स्था धातु से कः प्रत्यय। "**सधमादस्थयोश्छन्दसि**"

उत्कृष्ट, भव्य और अत्युच्च यज्ञशाला में (विश्वेदेवा:) सब विद्वान् (च) और (यजमान:) यज्ञकर्त्ता जन (सीदत) मिलकर बैठें ।।

समिदाधान क्रिया

समिदाधान विधि—इसके पश्चात्, जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होकर जलने लगे, तब चन्दन की अथवा पलाश आदि की तीन समिधाएं, जो आठ-आठ अंगुल की हों, घृत में डुबोकर, उनमें से नीचे लिखे मन्त्रों से एक-एक समिधा को यज्ञाग्नि में अर्पित करें।

समिदाधान मन्त्र—

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ।।

इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम ।। (इससे प्रथम)

[आश्व० गृ० सू० १.१०.१२]

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा ।। इदमग्नये—इदन्न मम ।।
सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन ।
अग्नये जातवेदसे स्वाहा ।। इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम ।।

(इन दोनों मन्त्रों से द्वितीय)

ओं तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा ।। इदमग्नयेऽङ्गिरसे—इदन्न मम ।।

यजु ३ । १-३ ।। (इससे तृतीय)

मन्त्रार्थ—(ओम्) मैं सर्वरक्षक परमेश्वर का स्मरण करता हुआ

[अष्टा० ६.३.९६] **सह को सध आदेश। 'सह तिष्ठन्ति जनाः यत्र सः सधस्थः, यज्ञशाला उपासनालय आदिकम्।' "सधस्थे सहस्थाने"** [नि० ३.१५]। यज्ञशाला आदि 'सधस्थ' हैं।'अधि-उत्तरस्मिन्' से यह संकेत मिलता है कि ये भव्य एवं अत्युच्च होने चाहियें।

कामना करता हूँ कि (जातवेदः)[१४१] हे सब उत्पन्न पदार्थों के प्रकाशक अग्नि! (अयम् इध्मः)[१४२] यह समिधा (ते आत्मा) ते जीवन का हेतु है = ज्वलित रहने का आधार है। (तेन) उस समिधा से तू (इध्यस्व) प्रदीप्त हो, (वर्धस्व) और ज्वालाओं से बढ़ (च) तथा (इद्ध) सबको प्रकाशित कर = सबको यज्ञीय लाभों से लाभान्वित कर। (च) और (अस्मान्) हमें (प्रजया) प्रजा से = सन्तान से (पशुभिः) पशु सम्पत्ति से (वर्धय) बढ़ा। (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज = विद्या, ब्रह्मचर्य एवं आध्यात्मिक तेज से, और (अन्न-अद्येन) अन्नादि धन-ऐश्वर्य तथा भक्षण एवं भोग-सामर्थ्य से (समेधय) समृद्ध कर। (स्वाहा) मैं त्यागभाव से यह समिधा-हवि प्रदान करता हूँ। (इदम्) यह आहुति (जातवेदसे अग्नये) जातवेदस् संज्ञक [= द्युलोकस्थ अग्नि की प्रतिनिधि] अग्नि के लिए है, (इदम्) यह (मम न) मेरी नहीं है।।१।।

(ओम्) मैं सर्वरक्षक परमेश्वर को स्मरण करते हुए वेद के आदेश का कथन करता हूँ कि हे मनुष्यो! (समिधा) समिधा के द्वारा (अग्निम्) यज्ञाग्नि की (दुवस्यत) सेवा करो = श्रद्धा-भक्ति से यज्ञ करो।

---

१४१. **जातवेदस्**—जातवेदस् या जातवेदा, परमात्मा और अग्नि दोनों के नाम हैं। निरुक्त ७.१९ में इसकी निरुक्ति इस प्रकार दी है—"**जातानि वैनं विदुः, जाते-जाते विद्यते इतिवा, जातवित्तो वा जातधनः, जातवित्तो वा जातप्रज्ञानः**" = जिसे उत्पन्न सभी मनुष्य जानते हैं, जो प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान है, जिसके उपयोग से धन-ऐश्वर्य प्राप्त होता है, जो वस्तुओं का प्रकाशक है। अग्नि में भी ये सभी विशेषताएं हैं। इस मन्त्र में जातवेदस् अग्नि द्युलोकस्थ अग्नि की प्रतिनिधि है।

जात शब्दपूर्वक 'विद्' धातु से उणादि 'असुन्' प्रत्यय के योग से 'जातवेदाः' शब्द सिद्ध होता है।

१४२. **इध्मः**—'इन्धी-दीप्तौ' धातु से उणादि [१.१४५] मक् प्रत्यय होकर 'इध्मः' पद बनता है। "**इध्मः समिन्धनात्**" [नि० ८.४] = प्रज्वलित होने या करने से समिधा और घृत 'इध्मः' कहलाते हैं। "**इध्मेन = समिधेन**" [ऋ०भा० ३.१८.३ महर्षि दयानन्द]। शतपथ में कहा है—"**इन्धे ह वा एतदध्वर्युः। इध्मेनाग्निं तस्मादिध्मो नाम**" [शत० १.३.५.१] = अध्वर्यु इध्म से अग्नि को प्रज्वलित करता है, अतः समिधा, घृत आदि का नाम 'इध्मः' है।

(घृतैः) घृताहुतियों से (अतिथिम्)[१४३] गतिशील एवं अतिथि के समान प्रथम सत्करणीय यज्ञाग्नि को (बोधयत) प्रबुद्ध करो, (अस्मिन्) इसमें (हव्या)[१४४] हवियों को (आ जुहोतन) भलीभांति अर्पित करो। (स्वाहा) मैं त्यागभाव से यह समिधा-हवि प्रदान करना चाहता हूँ। (इदम्) यह आहुति (अग्नये) यज्ञाग्नि के लिए है, (इदम्) यह (मम न) मेरी नहीं है।।२।।

(ओम्) मैं सवरक्षक परमेश्वर के स्मरणपूर्वक वेद के आदेश का कथन करता हूँ कि हे मनुष्यो! (सुसमिद्धाय) अच्छी प्रकार प्रदीप्त (शोचिषे)[१४५] ज्वालायुक्त (जातवेदसे अग्नये)[१४६] जातवेदस् संज्ञक अग्नि के लिए = वस्तुमात्र में व्याप्त एवं उनकी प्रकाशक अग्नि के लिए (तीव्रम् घृतम्) उत्कृष्ट घृत की (जुहोतन) आहुतियां दो, (स्वाहा) मैं त्यागभाग से समिधा की आहुति प्रदान करता हूँ। (इदम्) यह आहुति (जातवेदसे अग्नये) जातवेदस् संज्ञक माध्यमिक अग्नि के लिए है, (इदम्) यह (मम न) मेरी नहीं।।३।।

---

१४३. **अतिथिम्**—'अत्-सातत्यगमने' धातु से औणादिक [४.२] इथिन् प्रत्यय के योग से अतिथि शब्द बनता है। अतिथि से अग्नि की कई समानताएं हैं, अतः यहाँ यज्ञाग्नि के लिए अतिथि विशेषण प्रयुक्त हुआ है। "**अतति सततं गच्छति इति अतिथिः, ज्वालाभिः इतस्ततः गच्छति प्रसरति सः अग्निः**" = इधर-उधर यात्रा करके पहुँचने वाले को अतिथि कहते हैं, उसी प्रकार जो ज्वालाओं के द्वारा इधर-उधर फैलता है, उस अग्नि को अतिथि कहते हैं। जैसे घर में आये अतिथि को पहले भोजन कराते हैं और वह सत्करणीय है, उसी प्रकार सबके खाने से पहले भोजन की आहुतियां यज्ञाग्नि में दी जाती हैं और यज्ञ सत्करणीय है, अतः यज्ञ-अग्नि 'अतिथि' कहलाती है।

१४४. **हव्या**—"**हव्या = हव्यानि**" = हव्य पदार्थ। '**हु-दानादानयोः**' धातु से 'यत्' प्रत्यय होकर हव्य पद बना "**शेश्छन्दसि बहुलम्**" [अष्टा० ६.१.७०] इससे शे लोप होकर 'हव्या' बहुवचनान्त रूप बनता है।

१४५. **शोचिषे**—'शुच्-दीप्तौ' धातु से औणादिक [२.१०८] इसिः प्रत्यय। '**शोचति दीप्यते इति शोचिः = अग्निः**।' "**शोचिः ज्वलतो नाम**" [निघ० १.१७] = ज्वालायुक्त अग्नि का नाम 'शोचिः' है।

१४६. **जातवेदस्**—यहां जातवेदस् संज्ञक अग्नि अन्तरिक्षस्थानीय अग्नि की प्रतिनिधि है। विशेष विवेचन टिप्पणी १४१ में द्रष्टव्य है।

(ओम्) मैं सर्वरक्षक परमेश्वर का स्मरण करते हुए यह कथन करता हूँ कि (अङ्गिरः)[१४७] हे तीव्र प्रज्वलित यज्ञाग्नि! (तं त्वा) उस तुझको (समिद्भिः) समिधाओं से और (घृतेन) घृताहुतियों से (वर्धयामसि) हम बढ़ाते हैं। (यविष्ठ्य)[१४८] हे पदार्थों को मिलाने और पृथक् करने की महान् शक्ति से सम्पन्न अग्नि! तू (बृहत् शोच) बहुत अधिक प्रदीप्त हो, (स्वाहा) मैं त्यागभाव से समिधा की आहुति प्रदान करता हूँ। (इदम्) यह (अंगिरसे अग्नये) अंगिरस् संज्ञक पृथिवीस्थ अग्नि के लिए है (इदम्) यह (मम न) मेरी नहीं है।।४।।

पांच घृताहुतियां

विधि—नीचे लिखे मन्त्र का पांच बार अर्थविचारपूर्वक उच्चारण करके पांच घृत की आहुतियां देवें—

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्म वर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा।। इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम।। आश्व० गृ० १।१०।१२।।

मन्त्रार्थ—इस मन्त्र का अर्थ समिदाधान प्रकरण में किया जा चुका है। वहां देख लें। अन्तर इतना है कि यहां 'इध्म' शब्द का अर्थ 'घृत' है। वहां इसका अर्थ 'समिधा' किया गया है।

विशेष कथन—महर्षि दयानन्द ने संस्कार विधि के दैनिक अग्निहोत्र में "**अयंत इध्म आत्मा०**" मन्त्र से पांच घृताहुतियों का विधान नहीं किया है। इसका भ्रान्तिवश प्रचलन हो गया है, अतः हमने भी इसे दे दिया है। वस्तुतः आहुति प्रकरण जलप्रसेचन के बाद प्रारम्भ होता है।

जलसेचन क्रिया

जलसेचनविधि—दाहिनी अंजलि में जल लेकर अथवा दायें हाथ में

---

१४७. अङ्गिरः—"**अंगिरा उ ह्यग्निः**" [शत० १.४.१.२५] "**अंगारेषु अंगिराः**" [निरु० ३.१७] अंगिरा अग्नि का नाम है, यह अंगारों में उत्पन्न अग्नि होती है। इस प्रकार यह यज्ञाग्नि पृथिवीस्थानीय अग्नि की प्रतिनिधि है।

१४८. यविष्ठ्यः—"**यो वेगेन पदार्थान् यौति संयुनक्ति, संहतान् वा भिनति सः, अतिशयेन युवा यविष्ठय अग्निः**' युवन् से इष्ठन् और यत् प्रत्यय।

लिये पात्र से, अग्निकुण्ड के चारों ओर, निम्न मन्त्रों से क्रमशः पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण सहित चारों दिशाओं में जल-सिञ्चन करें–

जलसेचन मन्त्र–

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व।। इस मन्त्र से पूर्व में,

ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व।। इससे पश्चिम में,

ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व।। इससे उत्तर में,

[गो०गृ०सू० १.३.१-३; आप०गृ०सू० १.२.३]

ओं देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु।। यजु० अ० ३० । मं० १ ।।

इस मन्त्र से दक्षिण से प्रारम्भ करके चारों दिशाओं में जलसेचन करें।

मन्त्रार्थ–(ओम्) हे सर्वरक्षक (अदिते)[१४९] अखण्ड परमेश्वर! (अनुमन्यस्व) मेरे इस यज्ञकर्म का अनुमोदन कर अर्थात् मेरा यह यज्ञानुष्ठान अबाध अखण्डित रूप से सम्पन्न होता रहे। अथवा, पूर्वदिशा में, जलसिञ्चन के सदृश, मैं यज्ञीय पवित्र भावनाओं का प्रचार-प्रसार निर्बाध रूप से कर सकूँ, इस कार्य में मेरी सहायता कीजिये।।१।।

(ओम्) हे सर्वरक्षक (अनुमते)[150] यज्ञीय एवं ईश्वरीय संस्कारों के अनुकूल बुद्धि बनाने में समर्थ परमात्मन्! (अनुमन्यस्व) मेरे इस यज्ञ कर्म का अनुकूलता से अनुमोदन कर अर्थात् यह यज्ञानुष्ठान आपकी कृपा से सम्पन्न होता रहे। अथवा, पश्चिम दिशा में जल सिञ्चन के सदृश मैं यज्ञीय पवित्र भावनाओं का प्रचार-प्रसार आपकी कृपा से कर सकूँ, इस

---

१४९. **अदिति**–'दो-अवखण्डने' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय "**द्यतिस्यतिः**" [अष्टा० ७.४.४०] सूत्र से इकार आदेश दिति, न+दिति = अदिति = अखण्डस्वरूप।

१५०. **अनुमति**–अनुपूर्वक 'मन-ज्ञाने' धातु से "**मन्त्रे वृषेषपचमन**····" [अष्टा० ३.३.९६] सूत्र से भाव में 'क्तिन्' प्रत्यय। "**अनुमतिः–अनुमननात्**" [नि० ११.३०] = अनुकूलता या अनुमोदन करने से अनुमति संज्ञा है।

कार्य में मेरी सहायता कीजिये।।२।।

(ओम) हे सर्वरक्षक (सरस्वते)[१५१] प्रशस्त ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञानदाता परमेश्वर! (अनुमन्यस्व) मेरे इस यज्ञ कर्म का अनुमोदन कर अर्थात् आप द्वारा प्रदत्त उत्तम बुद्धि से मेरा यह यज्ञानुष्ठान सम्यक् विधि से सम्पन्न होता रहे। अथवा, उत्तर दिशा में जलसिञ्चन के सदृश मैं यज्ञीय ज्ञान का प्रचार-प्रसार करता रहूँ, इस कार्य में मेरी सहायता कीजिये।।३।।

(ओम्) हे सर्वरक्षक (देव सवितः) दिव्यगुण-शक्ति सम्पन्न, सब जगत् के उत्पादक परमेश्वर! (यज्ञं प्रसुव) मेरे इस यज्ञकर्म को बढ़ाओ (भगाय) आनन्द, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति के लिए (यज्ञपतिं प्रसुव) यज्ञकर्त्ता को यज्ञकर्म की अभिवृद्धि के लिए और अधिक प्रेरित करो। आप (दिव्यः) विलक्षण ज्ञान के प्रकाशक हैं (गन्धर्वः)[१५२] पवित्र वेदवाणी अथवा पवित्र ज्ञान के आश्रय हैं (केतपूः)[१५३] ज्ञान-विज्ञान से बुद्धि-मन को पवित्र करने वाले हैं, अतः (नः) हमारे (केतं पुनातु) बुद्धि-मन को पवित्र कीजिये। आप (वाचस्पतिः)[१५४] वाणी के स्वामी हैं, अतः (नः) हमारी (वाचम्) वाणी को (स्वदतु) मधुर बनाइये। अथवा, चारों दिशाओं में जलसिञ्चन के सदृश मैं यज्ञीय पवित्र भावनाओं का

---

१५१. **सरस्वति**—सृ धातु से असुन् प्रत्यय-सरस, इससे मतुप् और ङीप् होकर 'सरस्वति !' "**वाक् वै सरस्वती**" [शत० ७.५.१.३१; निघ० १.११] वाणी या ज्ञान की अधिष्ठात्री ईश्वरीय शक्ति सरस्वती है।

१५२. **गन्धर्वः—'गां वाचं धारयति इति गन्धर्वः, वेदवाणीधारकः परमेश्वरः।'** वेदवाणी का धारक होने से परमात्मा का नाम गन्धर्व है। 'गाम्' का अर्थ यदि 'पृथिवीम्' करें तो पृथिवी-धारक होने से भी गन्धर्व परमात्मा का नाम है।

१५३. **केतपूः—"केतः प्रज्ञानाम"** [निघ० ३.९]। **'यः केतेन = ज्ञान विज्ञानेन पुनाति, सः केतपूः ईश्वरः।"** = 'केतः' प्रज्ञाविशेष का नाम है। जो प्रज्ञाविशेष से पवित्र करता है, वह 'केतपूः' ईश्वर है। 'केत' पूर्वक 'पूञ्-पवने' धातु से क्विप् प्रत्यय।

१५४. **वाचस्पतिः—"वाचः पाता वा पालयिता वा"** [नि० १०.१७] जो वाणी या वेदवाणी का पालक और स्वामी है, वह वाचस्पति संज्ञक ईश्वर है। "**यो वै वाचेऽध्यक्षः स वाचस्पतिः**" [मै०सं० २.२.५]। उसी वाणी के स्वामी परमात्मा से उत्तम वाणी प्राप्त करने की प्रार्थना है।

प्रचार-प्रसार कर सकूँ, इस कार्य के लिए मुझे उत्तम ज्ञान, पवित्र आचरण और मधुर-प्रशस्त वाणी में समर्थ बनाइये।।४।।

आघारावाज्यभाग—आहुतियां

विधि—चम्मच में प्रचुर मात्रा में तपाया घृत भरकर धारा-प्रवाह रूप में यज्ञाग्नि में हवि देने को 'आघारावाज्याहुति' कहते हैं। निम्न मन्त्रों से क्रमशः यज्ञकुण्ड के उत्तरभाग और दक्षिणभाग में (प्रज्वलित समिधाओं पर) प्रचुर घृत की आहुति देवें--

ओम अग्नये स्वाहा।। —इस मन्त्र से यज्ञकुण्ड के
इदमग्नये इदं न मम।।१।। उत्तरभाग की अग्नि में आहुति दें।

ओं सोमाय स्वाहा। इस मन्त्र से दक्षिण भाग की
इदं सोमाय इदं न मम।।२।। अग्नि में आहुति दें।

[तुलनास्थल यजु० १०.५; गो०गृ०सू० १.८.२४]

मन्त्रार्थ—(ओम्) सर्वरक्षक (अग्नये)[१५५] प्रकाशस्वरूप दोषनाशक परमात्मा के लिए मैं (स्वाहा) त्यागभावना से घृत की हवि देता हूँ। (इदम्) यह आहुति (अग्नये) अग्निस्वरूप परमात्मा के लिए है, (इदम्) यह (मम न) मेरी नहीं है। अथवा, यज्ञाग्नि के लिए यह आहुति प्रदान करता हूँ।।१।।

(ओम्) सर्वरक्षक, (सोमाय)[१५६] शान्ति-सुख-स्वरूप और इनके दाता परमात्मा के लिए (स्वाहा) त्यागभावना से यह घृत की आहुति देता

१५५. **आध्यात्मिक पक्ष में अग्नि परमात्मा का वाचक है और आधिदैविक पक्ष में भौतिक यज्ञाग्नि का। जैसा कि शास्त्रों में कहा है—"विराट् अग्निः"** [शत० ६.२.२.३४], **अग्निर्वै प्रजापतिः"** [शत० ३.९.१.६], **"अग्निर्वैयज्ञः"** [शत० ३.४.३.१९] **"अग्निः कस्मात्? अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते"** [नि० ७.१४] **आदि।**

१५६. **सोमः**—सोम का अर्थ आध्यात्मिक में शान्ति-सुखस्वरूप परमात्मा है, अधिदैवत में चन्द्रमा है। यज्ञाहुतियां सूक्ष्म रूप होकर सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत् आदि में प्रविष्ट होती हैं। **"सोमो हि प्रजापतिः"** [शत० ५.१.५.२६], **"चन्द्रमा वै सोमः"** [कौ० १६.५]।

हूँ। शेष पूर्ववत्। अथवा, आनन्दप्रद चन्द्रमा के लिए यह आहुति प्रदान करता हूँ।।२।।

आज्यभाग-आहुतियां

विधि—निम्न दोनों मन्त्रों से यज्ञकुण्ड के मध्यभाग की अग्नि में घृत की आहुति देवें—

ओं प्रजापतये स्वाहा।।
इदं प्रजापतये-इदं न मम।।१।।

ओम् इन्द्राय स्वाहा।।
इदं इन्द्राय-इदं न मम।।२।।

मन्त्रार्थ—(ओम्) सर्वरक्षक (प्रजापतये)[१५७] प्रजा अर्थात् सब जगत् के पालक, स्वामी, परमात्मा के लिए (स्वाहा) मैं त्यागभाव से यह आहुति देता हूँ। अथवा, प्रजापति सूर्य के लिए यह आहुति अर्पित करता हूँ।।१।।

(ओम्) सर्वरक्षक (इन्द्राय)[१५८] परमऐश्वर्य-सम्पन्न तथा उसके दाता परमेश्वर के लिए (स्वाहा) मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ। अथवा, ऐश्वर्यशाली = शक्तिशाली वायु व विद्युत् के लिए यह आहुति प्रदान करता हूँ।।२।।

दैनिक अग्निहोत्र की प्रधान आहुतियां

विशेष वक्तव्य—

यहां से आगे दैनिक अग्निहोत्र की प्रधान आहुतियां हैं। इन्हें प्रधान

---

१५७. **प्रजापतिः**—आध्यात्मिक पक्ष में प्रजापति परमात्मा का नाम है, अधिदैवत में सूर्य का। यहाँ दोनों ही अर्थ अभीष्ट हैं। "**प्रजापतिः पाता वा पालयिता वा**" [नि० १०.४१], "**यो ह्येव सविता सः प्रजापतिः**" [शत० १२.३.५.१]।

१५८. **इन्द्रः**—महान् ऐश्वर्यसम्पन्न होने और उसका दाता होने के कारण परमेश्वर इन्द्र है। अधिदैवत में वायु, विद्युत् आदि भी इन्द्र कहलाते हैं। "**इन्द्रो ब्रह्मेनेति_**" [कौ० ६.१४], "**प्रजापतिर्वा स इन्द्रः**" [शत० २.३.१.७], "**इन्द्रः—योऽ (वायुः) पवते**" [शत० ३.९.४.१४], "**स्तनयित्नुरेवेन्द्रः**" [शत० ११.६.३.९] आदि।

आहुति इस कारण माना गया है कि इन मन्त्रों के उच्चारण के साथ घृत के अतिरिक्त सामग्री आदि होम द्रव्यों की आहुति भी दी जाती है। ये मन्त्र "**सूर्यो ज्योतिः**" से लेकर "**अग्ने नय सुपथा राये**" तक हैं।

प्रातःकालीन यज्ञ के मन्त्र

प्रातःकालीन आहुतियों के विशेष चार मन्त्र—

विधि—यहां तक केवल घृत और मोहनभोग की आहुतियां दी जा रही थीं। इन मन्त्रों से घृत के साथ-साथ सामग्री आदि अन्य होमद्रव्यों की भी आहुतियां दें। निम्नलिखित चार मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करें और प्रत्येक से एक-एक आहुति दें—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा।।१।।
ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।।२।।
ओं ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा।।३।।
ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या।
जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा।।४।। [यजु० ३ । ९-१०]

मन्त्रार्थ—(ओम्) सर्वरक्षक (सूर्यः)[१५९] सर्वत्रगतिशील, सबका प्रेरक परमात्मा (ज्योतिः)[१६०] प्रकाशस्वरूप है और (ज्योतिः) प्रत्येक प्रकाशस्वरूप वस्तु या ज्योति (सूर्यः) परमात्ममय = परमेश्वर से व्याप्त

---

१५९. **सूर्यः**—यह परमात्मा तथा आदित्य की संज्ञा है। 'सृ-गतौ' और 'षू-प्रेरणे' धातु से "**राजसूयसूर्यमृषोद्य**..." [अष्टा० ३.१.११४] सूत्र से 'क्यप्' प्रत्यय, सृ का रु और षू को रुड आगम। निरुक्त में निरुक्ति है—"**सर्त्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा**" [नि० १२.१४] गतिशीलता के कारण, प्रेरक होने के कारण परमात्मा का नाम सूर्य है। "**यः सूर्यः स धाता**" [ऐत० ३.४८], "**सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा**" [शत० १४.३.२.९] आदि वचन इसमें प्रमाण हैं।

१६०. **ज्योतिः**—द्युत्-दीप्तौ' धातु से "**द्युते रिसिन्नादेश्च जः** [उणा० २.११०]

है। (स्वाहा) उस परमेश्वर अथवा ज्योतिष्मान् उदयकालीन सूर्य के लिए मैं यह आहुति देता हूं।।१।।

(ओम्) सर्वरक्षक (सूर्यः) सर्वत्रगतिशील और सबका प्रेरक परमात्मा (वर्चः)[१६१] तेजःस्वरूप है, जैसे (ज्योतिः वर्चः) प्रकाश, तेजःस्वरूप होता है, (स्वाहा) उस परमात्मा अथवा तेजःस्वरूप प्रातःकालीन सूर्य के लिए मैं यह आहुति देता हूं।।२।।

(ओम्) सर्वरक्षक (ज्योतिः) ब्रह्मज्योति = ब्रह्मज्ञान (सूर्यः) परमात्ममय है, परमात्मा की द्योतक है, (सूर्यः) परमात्मा ही (ज्योतिः) ज्ञान का प्रकाशक है (स्वाहा) मैं ऐसे परमात्मा अथवा सबके प्रकाशक सूर्य के लिए यह आहुति प्रदान करता हूं।।३।।

(ओम्) सर्वरक्षक (सूर्यः) सर्वव्यापक, सर्वत्रगतिशील परमात्मा (देवेन सवित्रा)[१६२] सर्वोत्पादक, प्रकाश एवं प्रकाशक सूर्य (सजूः)[१६३] प्रीति रखने वाला, तथा (इन्द्रवत्या उषसा)[१६४] ऐश्वर्यशाली = प्रसन्नता, शक्ति तथा धनैश्वर्य देने वाली, प्राणमयी उषा से (सजूः) प्रीति रखने वाला है अर्थात् प्रीतिपूर्वक उनको उत्पन्न कर प्रकाशित करने वाला है,

---

सूत्र से 'इसिन्' प्रत्यय। ज्योतियुक्त पदार्थ और प्रकाशस्वरूप परमात्मा 'ज्योति' हैं। "**ज्योतिरमृतम्**" [शत० १४.४.१.३२]= ज्योति अविनाशी परमात्मा का नाम.है।

१६१. **वर्चः**—'वर्च-दीप्तौ' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय। "**वर्चसा = तेजसा**" [यजु० ८.१६]

१६२. **सवित्रा**—'षू-प्रेरणे' 'षु-प्रसवैश्वर्ययोः' धातुओं से 'तृच्' प्रत्यय। "**सविता सर्वस्य प्रसविता**" [नि० १०.३१], "**प्रजापतिर्वै सविता**" [तां० १६.५.१७]। "**सर्वेषां पदार्थानाम्, प्रकाशादीनां प्रसविता सविता।**"

१६३. **सजूः**—'जुषी-प्रीतिसेवनयोः' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय। "**यः समानं जुषते प्रीणति सः सजुः।**" "**सजूः सह जोषेण**" [नि० ९.१३]।

१६४. **इन्द्रवत्या**—'इदि-परमैश्वर्ये, धातु से "**ऋज्रेन्द्राग्रवज्र**···" [उणा० २.२८] सूत्र से 'रन्' प्रत्यय होकर इन्द्र शब्द सिद्ध होता है। **इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति, इति इन्द्रः**" = जो परम ऐश्वर्य से युक्त है वह इन्द्र है। इन्द्र शब्द से मतुप् और स्त्रीलिंग में ङीप् होकर 'इन्द्रवती' पद बना। परम ऐश्वर्य से युक्त को इन्द्रवती कहा गया है। प्राणमयी को भी इन्द्रवती कहा गया है-"**प्राण एवेन्द्रः**" [शत० १२.९.१.१४]।

(जुषाणः)[१६५] हमारे द्वारा स्तुति किया हुआ वह परमात्मा (वेतु)[१६६] हमें प्राप्त हो—हमारी आत्मा में प्रकाशित हो (स्वाहा) उस परमात्मा की प्राप्ति के लिए मैं यज्ञाग्नि में आहुति प्रदान करता हूं। अथवा, सबके प्रेरक और उत्पादक परमात्मा से (सजूः) संयुक्त, और (इन्द्रवत्या उषसा सजूः) प्रसन्नता, शक्ति, ऐश्वर्ययुक्त उषा से संयुक्त (सूर्यः) प्रातःकालीन सूर्य (जुषाणः) हमारे द्वारा आहुतिदान का सम्यक् प्रकार भक्षण करे और उन्हें वातावरण में व्याप्त कर दे, जिससे यज्ञ का अधिकाधिक लाभ हो।।४।।

प्रातःकालीन यज्ञ के शेष समान मन्त्र—

विधि—निम्न सभी मन्त्रों से दोनों कालों के यज्ञ में आहुति दें—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ।।१।।
इदमग्नये प्राणाय—इदं न मम ।।
ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ।।२।।
इदं वायवेऽपानाय— इदं न मम ।।
ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ।।३।।
इदमादित्याय व्यानाय-इदं न मम ।।
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ।।४।।
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः-इदं न मम ।।

[आधारित तै०उ० शिक्षा० ५; तै०आ० १०.२]

मन्त्रार्थ—(ओम्) सर्वरक्षक (भूः) सबके उत्पादक एवं सत्स्वरूप

---

१६५. **जुषाणः**—'जुषी—प्रीतिसेवनयोः' धातु से शानच् प्रत्यय। '**जुषाणः = सेवमानः परमेश्वरः।**' "**ब्रह्म वै जुषाणः**" [कौ० ३.५] = परमात्मा ही उपासनीय होने से 'जुषाणः' है।

१६६. **वेतु**—'वी-गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' धातु का लट्-रूप। निघण्टु में भी इन्हीं अर्थों में इस धातु का प्रयोग है—"**वेति अत्तिकर्मा**" [निघ० २.८], "**वेति गतिकर्मा**" [निघ० २.१४]।

(अग्नये) सर्वत्र व्यापक (प्राणाय)[१६७] प्राणस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति के लिए (स्वाहा) मैं यह आहुति देता हूँ। (इदम् अग्नये प्राणाय) यह आहुति अग्नि और प्राणसंज्ञक परमात्मा के लिए है (इदम् न मम) यह मेरी नहीं है।

अथवा, (ओम्) परमेश्वर के स्मरणपूर्वक (भूः)[१६८] पृथिवीस्थानीय (अग्नये) अग्नि के लिए, और (प्राणाय) प्राणवायु की शुद्धि के लिए (स्वाहा) मैं यह आहुति प्रदान करता हू।।१।।

(ओम) सर्वरक्षक (भुवः) सब दुःखों से छुड़ाने वाले और चित्स्वरूप (वायवे)[१६९] सर्वत्र गतिशील (अपानाय)[१७०] दोषों को दूर करने वाले

---

१६७. **प्राणाय**—प्राण शब्द प्राणवायु और परमात्मा, दोनों का वाचक है। प्र पूर्वक 'अन-प्राणने' धातु से घञ् प्रत्यय होकर प्राण शब्द सिद्ध होता है। महर्षि दयानन्द इसकी निरुक्ति करते हैं—**प्राणयति जीवयति सर्वान् प्राणिनः सः प्राणः, प्राणदपि प्रियस्वरूपो वा, स चेश्वर एव।**" [पं० महा० विधि गायत्री मन्त्र व्याख्या में]। ब्राह्मणग्रन्थों में भी प्राण परमात्मा का नाम दर्शाया है—"**यः प्राणः सः वरुणः**" [गो०उ० ४.११] = वरुण = परमात्मा का नाम ही प्राण है। "**प्राणापानौ देवः = ब्रह्मः**" [गो० १.२.११]। मनुस्मृति में यही कहा है—**एतमेके वदन्त्यग्निं**··· **इन्द्रमेके परे प्राणम्**" [१२.१२३]। भूः के साथ प्राण की सम्बद्धता शास्त्रोक्त है-"**भूरिति**" **प्राणः**" [पं०महा० विधि]।

१६८. **भूः**—"**भूरिति पृथिवी नाम**" [निघ० १.१], "**भूः हि इयं (पृथिवी)**" [शत० ७.४.२.७]।

१६९. **वायुः**—'वा-गतिगन्धनयोः' धातु से "**कृवापाजि**···" [उणा० १.१] सूत्र से 'उः' प्रत्यय। "**वायुर्वातेर्वेत्तेर्वा स्यात् गतिकर्मणः**" [निरु० १०.१]। "**योऽयं (वायुः) पवते स एष एव प्रजापतिः**"[जै०उ० १.३४.३; शत० ७.३.४.१५]। आदि। इस प्रकार परमात्मा और भौतिक वायु का नाम 'वायुः' है।

१७०. **अपानः**—अपान भी परमात्मा एवं अपानसंज्ञक वायु का वाचक है। "**अपानिति दुःखं दोषादिकं वासः परमेश्वरः।**" = जो दुःख, दोष आदि का निवारण करता है, वह परमेश्वर 'अपान' है। "**अपानो वरुणः**" [शत० ८.४.२.६], "**प्राणापानौ देवः (ब्रह्मः)**" [गो० १.२.११]। भुवः से अपान की सम्बद्धता वर्णित है—"**भुवः इत्यपानः**" [तै०अ० ७.५.३]। "**यः सर्वं दुःखमपनयति सोऽपानः**" [पं० महा० विधि]। अप + 'अन-प्राणने' धातु से घञ् प्रत्यय।

परमात्मा की प्राप्तिं के लिए (स्वाहा) मैं आहुति प्रदान करता हूँ। (इदम् वायवे अपानाय) यह आहुति वायु और अपान संज्ञक परमात्मा के लिए है (इदम् न मम) यह मेरी नही है।

अथवा, (ओम्) परमेश्वर के स्मरणपूर्वक (भुवः)[१७१] अन्तरिक्षस्थानीय (वायवे) वायु के लिए और (अपानाय) अपान वायु की शुद्धि के लिए (स्वाहा) मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ।।२।।

(ओम्) सर्वरक्षक (स्वः) सुखस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप (आदित्याय)[१७२] अखण्ड और प्रकाशस्वरूप (व्यानाय)[१७३] सर्वत्र व्याप्त परमात्मा की प्राप्ति के लिए (स्वाहा) मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ। (इदम् आदित्याय व्यानाय) यह आहुति आदित्य और व्यान संज्ञक परमात्मा के लिए है (इदम् न मम) यह मेरी नहीं है।

अथवा, (ओम्) सर्वरक्षक परमात्मा के स्मरणपूर्वक (स्वः)[१७४] द्युलोकस्थानीय (आदित्याय) सूर्य के लिए (व्यानाय) और व्यान वायु की शुद्धि के लिए (स्वाहा) यह आहुति प्रदान करता हूँ। (इदम् आदित्याय व्यानाय) यह आहुति आदित्य और व्यान वायु के लिए है (इदम् न मम) यह मेरी नहीं है।।३।।

(ओम्) सर्वरक्षक (भूः) सबके उत्पादक एवं सत्स्वरूप (भुवः)

---

१७१. **भुवः**–"**भुवः इति अन्तरिक्षलोकः**" [शत० ८.७.४.५]

१७२. **आदित्यः**–'दो-अवखण्डने' धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर दिति, न+दिति= अदिति, अदितिरेव आदित्यः= अखण्ड, अविनाशी परमात्मा। "**न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः, अदितिरेव आदित्यः**" [स०प्र० प्रथम समु०]। "**धातासौ स आदित्यः**" [शत० ९.५.१.३७] "**असौ वा अदित्यो ब्रह्म**" [शत० ७.४.१.१४; जै०उ० ३.४.९; षड्० १.१]

१७३. **व्यानः**–वि+'अन= प्राणने' धातु से घञ् प्रत्यय। "**व्यानयति चेष्टयति प्राणादि सकलं जगत् स व्यानः, सर्वाधिष्ठानं बृहद् ब्रह्म**" [पं०महा० विधि]। "**व्यानो वरुणः**" [शत० १२.९.१.१६] व्यापक ब्रह्म ही व्यान है।

१७४. **स्वः**–"**असौ (द्यु-) लोकः स्वः**" [ऐ० ६.७], "**स्वःस्वृतो भासं ज्योतिषाम्, स्वृतो भासा इति वा, एतेन द्यौर्व्याख्याता**" [निरु० २.१४]। व्यान के साथ द्युलोक की सम्बद्धता–"**(प्रजापतिः) व्यानादमुं (द्यु-लोकम्) प्राबृहत्**" [कौ० ६.१०]।

दुःखों को दूर करने वाले एवं चित्स्वरूप (स्वः) सुख-आनन्द स्वरूप (अग्नि-वायु-आदित्येभ्यः) सर्वत्र व्याप्त, गतिशील, प्रकाशक (प्राण-अपान-व्यानेभ्यः) सबके प्राणाधार, दोष-निवारक, व्यापक स्वरूपों वाले परमात्मा के लिए (स्वाहा) मैं यह आहुति पुनः प्रदान करता हूँ। (इदम् अग्नि..... इदं न मम) यह आहुति उक्तसंज्ञक परमात्मा के लिए है, मेरी नहीं है।

अथवा, (ओम्) परमेश्वर के स्मरणपूर्वक (भूः भूवः स्वः) पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्युलोकस्थानीय (अग्नि-वायु-आदित्येभ्यः) अग्नि, वायु और आदित्य के लिए, तथा (प्राण-अपान-व्यानेभ्यः) प्राण, अपान और व्यान संज्ञक प्राणवायुओं की शुद्धि के लिए (स्वाहा) मैं यह आहुति पुनः प्रदान करता हूँ।।४।।

ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म स्वरों भूर्भुवः स्वाहा ।।५।।

[तै०आ० १०.१५]

मन्त्रार्थ–(ओम्) हे सर्वरक्षक परमेश्वर आप (आपः)[१७५] सर्वव्यापक, (ज्योतिः)[१७६] सर्वप्रकाशस्वरूप एवं प्रकाशक, (रसः)[१७७] उपासकों द्वारा रसनीय, आस्वादनीय, आनन्द हेतु उपासनीय, (अमृतम्)[१७८] नाशरहित, अखण्ड, अजर-अमर, (ब्रह्म) सबसे महान् (भूः) प्राणाधार और सत्स्वरूप (भुवः) दुःखों को दूर करने वाले और

---

१७५. **आपः–आपः परमेश्वर का वाचक है, जैसा कि स्वयं वेदमन्त्र में कहा–"ताः आपः सः प्रजापतिः"** यह नित्य बहुवचनान्त स्त्रीलिंग प्रयोग है। 'आप्लृ-व्याप्तौ' धातु से बना होने के कारण इसका अर्थ सर्वव्यापक है। "**आपःआप्नोतेः**" [नि० ९.२६]। "**आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी**" [शत० ८.२.३.१३]।

१७६. **ज्योतिः–यह भी परमात्मा का नाम है। द्रष्टव्य "सूर्यो ज्योति ज्योतिः"** मन्त्र पर, टिप्पणी संख्या १६० ।

१७७. **रसः**–'रस्-आस्वादनस्नेहनयोः' धातु से 'अच्' प्रत्यय के योग से यह शब्द सिद्ध होता है। आनन्दवर्धक और स्नेह-स्वरूप होने से परमात्मा का नाम 'रसः' है। उपनिषदों में कहा है–
"**रसो वै सः, रस ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति**" [तैत्ति० २.६.१]

१७८. **अमृतम्**–'मृङ्-प्राणत्यागे' धातु से 'क्त' प्रत्यय, नञ् समास होकर 'अमृतम्'= अमरणधर्मा परमात्मा। "**अमृते-अमरणधर्माणौ**" [नि०

चित्स्वरूप, (स्वः) सुखस्वरूप एवं सुख-प्रदाता और आनन्दस्वरूप (ओम्) सबके रक्षा करने वाले हैं। ये सब आपके नाम हैं (स्वाहा) इन नामों वाले आप परमेश्वर की प्राप्ति के लिए मैं आहुति प्रदान करता हूँ।

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ।।६।।
[यजु० अ० ३२. । मं० १४ ।।]

मन्त्रार्थ–(ओम्) हे सर्वरक्षक (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (यां मेधाम्)[१७९] जिस धारणावती = ज्ञान, गुण, उत्तम विचार आदि को धारण करने वाली बुद्धि को (देवंगणाः) दिव्य गुणों वाले विद्वान् (च) और (पितरः)[१८०] पालकजन माता-पिता आदि ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध जन (उपासते) उपासना करते हैं अर्थात् चाहते हैं और उसकी प्राप्ति के लिए यत्नशील रहते हैं, (तया मेधया) उस मेधा बुद्धि से (माम्) मुझे (अद्य) आज (मेधाविनं कुरु) मेधा बुद्धि वाला बनाओ। (स्वाहा) इस प्रार्थना के साथ मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ।।

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आ सुव स्वाहा ।।७।। [यजु०अ० ३० । मं० ३१]

मन्त्रार्थ–(ओम्) हे सर्वरक्षक (देव सवितः) दिव्य गुण-शक्तिसम्पन्न, सबके उत्पादक और प्रेरक परमात्मन्! आप कृपा

२.२०], "**प्रजापतिर्वा अमृतः**" [शत० ६.३.१.१७] "**अथ यद् ब्रह्म तदमृतम्**" [जै०उ० १.२५.१०]. "**यदमृतं तद् ब्रह्म**" [गो०पू० ३.४]।

१७९. **मेधा**–'मेधा-आशुग्रहणे' धातु से "**षिद्भिदादिभ्योऽङ्**" [३.३.१०४] सूत्र से अङ् प्रत्यय। विद्या, सद्विचार, गुण आदि को शीघ्र धारण करने वाली बुद्धि को मेधा बुद्धि कहते हैं।

१८०. **पितरः**–"**ये पितृवत् पान्ति, रक्षन्ति विद्या सुशिक्षान्नादिदानैः ते पितरः**" माता, पिता, पितामह, चाचा, ताऊ आदि वयोवृद्ध जन। "**मर्त्याः पितरः**" [शत० २.१.३.४]= मनुष्य पितर कहलाते हैं। "**देवा वा एते पितरः**" [गो०उ० १.२४]= विद्वानों को पितर कहा जाता है। ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध व्यक्तियों के लिए मनुस्मृति में प्रयोग द्रष्टव्य है–"**अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कविः**" [२.१२६], "**दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह**" [९.२८] आदि।

करके हमारे (विश्वानि) सब (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परासुव) दूर कर दीजिए, और (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव हैं (तत्) उनको (नः) हमें (आ सुव) भलीभांति प्राप्त कराइये।।

ओम् अग्ने नयं सुपथां राये अस्मान्विश्वांनि देव वयुनांनि विद्वान्। युयोध्युस्मज्जुंहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नर्म उक्तिं विधेम स्वाहा।।८।।

[यजु०अ० ४० । मं० १६ ।।]

मन्त्रार्थ—(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप, सन्मार्गप्रदर्शक (देव) दिव्यसामर्थ्ययुक्त परमात्मन्! (अस्मान्) हमको (राये) ज्ञान-विज्ञान, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति के लिए (सुपथा नय) धर्मयुक्त कल्याणकारी मार्ग से ले चल। आप (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) समस्त ज्ञान-विज्ञानों और कर्मों को जानने वाले हैं, (अस्मत्) हम से (जुहुराणम् एनः) कुटिलतायुक्त पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिये। इस हेतु से हम (ते) आपकी (भूयिष्ठां नमउक्तिम्) विविध प्रकार की और अधिकाधिक स्तुति-प्रार्थना-उपासना, सत्कार व नम्रतापूर्वक (विधेम) करते हैं।।

विशेष कथन—उक्त मन्त्र के पश्चात् तीन पूर्णाहुतियां देने का विधान है, किन्तु यहां एक अन्य विशेष विधान भी है। महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि सायंकाल और प्रातःकाल के मन्त्रों से हवन करके यदि अधिक होम करने की इच्छा हो तो 'स्वाहा' शब्द अन्त में बोल कर **गायत्रीमन्त्र** और "**विश्वानि देव सवितः.....**" इन मन्त्रों में से किसी एक या दोनों को बोलकर इच्छित संख्या में आहुतियां देवें।[१८१] तत्पश्चात् पूर्णाहुति देवें।

[द्रष्टव्य स०प्र०तृ०समु०, पं० महा० विधि, ऋ० भा० भू० यज्ञ प्रकरण]।

---

१८१. **दीर्घविधि**—महर्षि दयानन्द ने दैनिक अग्निहोत्र की उपर्युक्त विधि जो निर्धारित की है, वह लघुतम है। किन्तु महर्षि ने इसके साथ-साथ दीर्घ विधि का भी ध्यान रखा है। यह उनकी गम्भीरता एवं व्यापक बुद्धिमत्ता का द्योतक है। जो दीर्घ दैनिक अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना चाहे वह '**गायत्री मन्त्र**' और '**विश्वानि देव वयुनानि**' मन्त्रों से इच्छित आहुतियाँ दे सकता है। यही शैली महर्षि ने सन्ध्या में भी प्रतिपादित की है। वहां दीर्घसन्ध्या

सायंकालीन यज्ञ के मन्त्र

सायंकालीन आहुतियों के विशेष चार मन्त्र—

विधि—निम्न चार मन्त्रों से सायंकाल यज्ञ करना चाहिये। प्रत्येक मन्त्र से घृत एवं अन्य होम द्रव्य की एक-एक आहुति दें। तीसरे मन्त्र को ओम् कहने के बाद मन ही मन बोलें, फिर स्वाहा का प्रकट उच्चारण करके आहुति दें।

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा।।१।।

ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।।२।। [यजु० ३.९]

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा।।३।। इस मन्त्र के ओम् और स्वाहा को प्रकट उच्चारण करके आहुति दें, मध्यभाग को मौनरूप से उच्चरित करें।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या।
जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा।। [यजु० अ० ३ । मं० १०]

मन्त्रार्थ—(ओम्) सर्वरक्षक (अग्निः)[१८२] सर्वत्र व्यापक, दोषनिवारक

करने के इच्छुक उपासकों के लिए अघमर्षण और मनसापरिक्रमा मन्त्रों के मध्य इच्छित समय तक गायत्री आदि मन्त्रों का अर्थपूर्वक मौनजप करने का विधान है।

जो लोग यहां स्वेच्छा से अन्य मन्त्रों को बोलकर आहुति देते हैं, वे महर्षि विहित दैनिक अग्निहोत्र की विधि के विरुद्ध आचरण करते हैं। उन्हें स्वैच्छिक और प्रमाण रहित विधि का प्रचलन नहीं करना चाहिये।

१८२. **अग्निः**—अग्नि परमात्मा और भौतिक अग्नि का प्रसिद्ध नाम है। निरुक्त में इसकी निरुक्ति इस प्रकार दी है—"**अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते।**" [नि० ७.१४] = सबसे पूर्व वर्तमान होने से और यज्ञों में उपासनीय होने से परमात्मा का नाम अग्नि है। अग्नि के समान प्रकाशस्वरूप, ज्ञानप्रकाशस्वरूप तथा दोषनिवारक होने से भी परमात्मा का नाम अग्नि है। ब्राह्मण ग्रन्थों में परमात्मा को अग्नि नाम से व्यवहृत किया है—"**विराट् अग्निः**" [शत० ६.२.२.३४] = विराट् परमात्मा अग्नि है। "**यो वै रुद्रः सोऽग्निः**" [शत० ५.२.४.१३] = रुद्रसंज्ञक परमात्मा का नाम अग्नि है। "**आत्मैवाग्निः**" [शत० ६.७.१.२०] = परमात्मा ही अग्नि

परमात्मा (ज्योतिः) ज्योतिस्वरूप = प्रकाशस्वरूप है, और (ज्योतिः) प्रत्येक ज्योति या ज्योतियुक्त पदार्थ (अग्निः) अग्निसंज्ञक परमात्ममय = परमात्मा से व्याप्त है, (स्वाहा) मैं उस परमात्मा की प्राप्ति के लिए अथवा ज्योतिःस्वरूप अग्नि के लिए आहुति प्रदान करता हूँ।।१।।

(ओम्) सर्वरक्षक (अग्निः) सर्वत्रव्यापक, दोषनिवारक परमात्मा (वर्चः) तेजःस्वरूप है, जैसे (ज्योतिः) प्रत्येक प्रकाशयुक्त वस्तु या प्रकाश (वर्चः) तेजःस्वरूप होता है, (स्वाहा) मैं उस परमात्मा की प्राप्ति के लिए अथवा, तेजःस्वरूप अग्नि के लिए आहुति प्रदान करता हूँ।।२।।

(ओम्) सर्वरक्षक (अग्निः) सर्वत्रव्यापक, दोषनिवारक परमात्मा (ज्योतिः) ब्रह्मज्योति और ज्ञान-विज्ञानस्वरूप है, (ज्योतिः) ब्रह्मज्योति और ज्ञान-विज्ञान (अग्निः) अग्निसंज्ञक परमात्मा से उत्पन्न अथवा उसका द्योतक है, (स्वाहा) मैं उस परमात्मा की प्राप्ति हेतु और सबको प्रकाशित करने वाले अग्नि के लिए आहुति प्रदान करता हूँ।[१८३]।३।।

है। "**अग्निरेव ब्रह्म**" [शत० १०.४.१.५]= अग्नि ही ब्रह्म है। "**प्रजापतिरग्निः**" [शत० ६.२.१.२३]= प्रजापति परमात्मा ही अग्नि है। आदि। वेद में भी कहा है– "**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।**" [ऋग् १२.१६४.४६]। मनुस्मृति में भी–"**एतमेके वदन्त्यग्निम्**" [१२.१२३]। 'अञ्चु-गतिपूजनयोः' या 'अग-अगि-गतौ' धातुओं से अग्नि शब्द सिद्ध होता है।

१८३. **सायं-प्रातःकालीन मन्त्र**–(१) यजुर्वेद ३.९ मन्त्र में सायं एवं प्रातःकालीन मन्त्रों का एकत्र एक **मन्त्र** के रूप में पाठ है। इन्हें, यज्ञ में विनियोग करने के लिए पृथक्-पृथक् करके रखा गया है। ऐसा शतपथ ब्राह्मण २.३.१.३०-३८ और कात्यायन श्रौतसूत्र ४.१४.१४-१५; ४.१५.९-११ के आधार पर किया गया है।

(२) मूल मन्त्र में सायंकालीन आहुतियों के मन्त्रों में तीसरा मन्त्र नहीं है। उसका पुनरुल्लेख प्रातःकाल के मन्त्रों के बराबर आहुति करने के लिए किया गया है।

(३) मूल मन्त्र में सायंकालीन मन्त्रों का पाठ पहले है, प्रातःकालीन मन्त्रों का उसके पश्चात्। यज्ञ-विधि में प्रातःकालीन मन्त्रों का पाठ पहले तथा सायंकालीन का बाद में मिलता है। यह मूल वेदमन्त्र के क्रम से विरुद्ध है। मूलमन्त्र निम्न प्रकार है–

"**अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा।**

(ओम्) सर्वरक्षक (अग्निः) सर्वत्रव्यापक, दोषनिवारक, प्रकाशस्वरूप परमात्मा (देवेन सवित्रा) प्रकाशस्वरूप एवं प्रकाशक सूर्य से (सजूः) प्रीति रखने वाला, तथा (इन्द्रवत्या रात्र्या) प्राणमयी एवं चन्द्र–तारक प्रकाशमयी रात्रि से (सजूः) प्रीति रखने वाला है अर्थात् प्रीतिपूर्वक उनको उत्पन्न कर, प्रकाशित करने वाला है, (जुषाणः) हमारे द्वारा स्तुति किया जाता हुआ वह परमात्मा (वेतु) हमें प्राप्त हो–हमारी आत्मा में प्रकाशित हो, (स्वाहा) उस परमात्मा की प्राप्ति के लिए मैं यज्ञाग्नि में आहुति प्रदान करता हूँ।।

अधिदैवत पक्ष में–(देवेन सवित्रा) सबके प्रकाशक सूर्य से और सबके प्रेरक और उत्पादक परमात्मा से (सजूः) संयुक्त और इन्द्रवत्या रात्र्या सजूः) प्राण एवं चन्द्र-तारक-प्रकाशमयी रात्रि से संयुक्त (अग्निः) भौतिक अग्नि (जुषाणः) हमारे द्वारा आहुतिदान से प्रशंसित किया जाता हुआ (वेतु) हमारी आहुतियों का सम्यक् प्रकार भक्षण करे और उन्हें वातावरण में व्याप्त कर दे, जिससे यज्ञ का अधिकाधिक लाभ पहुँचे।।४।।

सायंकालीन यज्ञ के शेष समान मन्त्र

विधि–निम्न मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक प्रत्येक से एक-एक आहुति दें। इनका अर्थ प्रातःकालीन यज्ञ के मन्त्रों में किया जा चुका है।

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा।
इदमग्नये प्राणाय–इदं न मम।।५।।

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा।
इदं वायवेऽपानाय–इदं न मम।।६।।

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा।
इदमादित्याय व्यानाय–इदं न मम।।७।।

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा।
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः–इदं न मम।।८।।

अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा, सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा।।" [यजु० ३.९]

ओं आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा।।९।।

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा।।१०।।

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्न आसुव स्वाहा।।२१।।

ओम् अग्ने नयं सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽ उक्तिं विधेम स्वाहा।।२।।

अधिक होम करने की इच्छा हो तो एक या अधिक बार गायत्री मन्त्र अथवा "**विश्वानिदेव...**" मन्त्र का उच्चारण करके आहुति दें।

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् स्वाहा।

पूर्णाहुति मन्त्र

विधि–निम्न मन्त्र को तीन बार बोलकर तीन आहुतियां देवें और इस प्रकार यज्ञानुष्ठान की पूर्णाहुति करें।

ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा।।
ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा।।
ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा।। [आधारित शत० ५.२.२.१]

मन्त्रार्थ–(ओम्) हे सर्वरक्षक परमेश्वर! आप की कृपा से (वै) निश्चयपूर्वक (सर्वम्) मेरा आज का यह समग्र यज्ञानुष्ठान (पूर्णम्) पूरा हो गया है, (स्वाहा) मैं यह पूर्णाहुति प्रदान करता हूं।

पूर्णाहुति मन्त्र को तीन बार उच्चारण करना इन भावनाओं का द्योतक है कि शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक, तथा पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के उपकार की भावना से, एवं आध्यात्मिक, आधिदैबिक और आधिभौतिक सुखों की प्राप्ति हेतु किया गया यह यज्ञानुष्ठान पूर्ण होने के उपरान्त सफल सिद्ध हो। इसका उद्देश्य पूर्ण हो।

विशेष कथन–

१. पूर्णाहुति के पश्चात् मन्त्रात्मक विधि का कोई कर्म शेष नहीं रहता, अतः पूर्णाहुति के पश्चात् किसी मन्त्र से कोई आहुति या यज्ञक्रिया सम्पादित नहीं करनी चाहिये। यदि अग्निहोत्र के अतिरिक्त किसी अन्य विधिविहित मन्त्र से कोई आहुति देनी है तो वह पूर्णाहुति से पूर्व ही देनी चाहिये।

२. कुछ व्यक्ति अग्निहोत्र में इच्छित मन्त्रों का पाठ करके आहुतियां देते हैं। ऐसा करने से महर्षिकृत विधि की एकरूपता भंग होती है। इस प्रकार मनमानेपन की प्रवृत्ति बढ़ जायेगी, जिससे याज्ञिक विधि नष्ट हो जायेगी, अतः विधि के अनुसार ही यज्ञानुष्ठान करें। यदि अधिक आहुतियां देना चाहते हैं तो "**अग्ने नय सुपथा.....**" मन्त्र के पश्चात् '**गायत्री मन्त्र**' अथवा "**विश्वानि देव.....**" मन्त्र से यथेष्ट आहुतियां दे सकते हैं। महर्षि ने यही विधान किया है।

३. यज्ञीय भावना की अभिवृद्धि, यज्ञीय वातावरण की पुष्टि, श्रेष्ठ संस्कारों के निर्माण और ज्ञानवृद्धि आदि के लिए यज्ञान्त में **धार्मिक–आध्यात्मिक प्रवचन, प्रार्थनाएं, भजन आदि** का कार्यक्रम रखें। '**यज्ञरूप प्रभो**......' भजन अवश्य बोलें।

४. पञ्चमहायज्ञ, संस्कार या कोई धार्मिक-आध्यात्मिक अनुष्ठान जब भी पूर्ण करें तो शान्तिपाठ बोलकर समाप्त करें।

५. यज्ञान्त में उद्घोषों की परम्परा भी उपादेय है। इससे उत्साह का संचार होता है तथा सामाजिक एकता का भाव प्रबल होता है। यज्ञान्त के उद्घोष, विधि भाग के अन्त में द्रष्टव्य हैं।

इति दैनिक अग्निहोत्र विधिः

एक समय में दोनों कालों का यज्ञ व उसकी विधि

विशेष कथन—शास्त्रों ने और महर्षि दयानन्द ने दोनों कालों में अग्निहोत्र करना आवश्यक कहा है, किन्तु दोनों कालों का एक काल में यज्ञ करने की छूट भी महर्षि ने दी है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यह छूट आपत्काल या अपवादस्वरूप ही है अर्थात् किसी विशेष कारण या परिस्थितिवशात् है, नैत्यिक छूट नहीं है। महर्षि लिखते हैं—"**किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय, दोनों साथ उपस्थित न हो सकें, तो एक ही स्त्री वा पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे अर्थात् एक-एक मन्त्र को दो-दो बार पढ़ के दो-दो आहुति करे।**" [सं० वि० पृ० २६६ पर टिप्पणी] । महर्षि का नैत्यिक विधान इस प्रकार है—"**जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें, इसी प्रकार दोनों स्त्री-पुरुष अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें।**" [सं० वि० गृहा० प्रक० पृ० २६६] ।

सोलह आहुतियां—प्रत्येक यज्ञकर्त्ता को दैनिक अग्निहोत्र में कितनी आहुतियां प्रतिसमय अथवा प्रतिदिन देनी चाहियें, इस विषयक निर्देश सत्यार्थप्रकाश में मिलता है। महर्षि लिखते हैं—"**प्रत्येक मनुष्य को सोलह-सोलह आहुति और छः-छः माशे घृतादि एक-एक आहुति का परिमाण न्यून से न्यून चाहिये और जो इससे अधिक करे तो बहुत अच्छा है।**"[स०प्र०तृ० समु०] सोलह आहुतियां कौन-सी हैं? महर्षि का इनसे क्या अभिप्राय है? इन बातों के स्पष्टीकरण को लेकर आर्य विद्वानों में मतभेद हैं। मेरे विचार से मतान्तर प्रस्तुत करना निरर्थक है। महर्षि कृत संस्कारविधि का अग्निहोत्र प्रकरण ऐसा है जहां उन्होंने १६ आहुतियाँ निर्विवाद रूप से उल्लिखित कर दी हैं। उसके अनुसार-२ आधारावाज्याहुति + २ आज्यभागाहुति + ४ प्रातःकालीन विशेष आहुतियां (सायंकालीन यज्ञ में इनके स्थान पर ४ सायंकालीन विशेष आहुतियां) + ८ दोनों कालों की समान आहुतियां ("ओं भूरग्नये" से लेकर "अग्ने नय सुपथा" मन्त्र तक), इस प्रकार एक काल के यज्ञ की १६ आहुतियां बनती हैं, और दोनों कालों की १६ + = ३२ आहुतियां बनती हैं। महर्षि ने भी दोनों कालों में

"**सोलह-सोलह**" अर्थात् बत्तीस आहुतियां देने का अनिवार्य विधान किया है।

अब प्रश्न उठता है कि महर्षि एक ओर लिखते हैं—'दैनिक अग्निहोत्र नित्य अवश्य करना चाहिये', दूसरे स्थान पर लिखते हैं—'सोलह-सोलह आहुतियां देनी चाहियें।' इस प्रकार महर्षि के वचनों में विरोध उपस्थित होता है और प्रतीत होंता है कि दैनिक अग्निहोत्र की भी एक साथ दो पद्धतियां प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस विषयं में मेरा एक तर्क है, जिससे महर्षि के विधानों के विरोध का समाधान, स्पष्टीकरण और पुष्टि भी हो जाती है। महर्षि जब यह कहते हैं कि 'दैनिक अग्निहोत्र नित्य करें' अथवा 'सोलह आहुतियां दें' तब दोनों का अभिप्राय एक ही है। दैनिक अग्निहोत्र का अर्थ १६ आहुतियां और १६ आहुतियों का अर्थ दैनिक अग्निहोत्र ही है। क्योंकि संस्कारविधि के अनुसार दैनिक अग्निहोत्र में १६ प्रमुख आहुतियां ही हैं, और १६ प्रमुख आहुतियों से ही दैनिक अग्निहोत्र की सम्पन्नता होती है। उससे पूर्व की विधियां तो दैनिक अग्निहोत्र की आहुतिपूर्व की सज्जात्मक विधियां हैं, उनके विहित होने के बाद ही आहुतियां दी जा सकती हैं और आहुति प्रकरण भी सज्जात्मक विधियों के पश्चात् प्रारम्भ होता है। महर्षि ने कम से कम १६ आहुतियों से युक्त अग्निहोत्र विहित किया है। अतः दोनों वचनों से उनका अभिप्राय यही है कि 'दैनिक अग्निहोत्र नित्य अवश्य करना चाहिये।' इस प्रकार उनके वचनों में कोई विरोध या द्वैधीभाव या पद्धतिद्वय का भाव नहीं है। इस प्रकार जब दोनों कालों का एक ही काल में अग्निहोत्र करना पड़े अथवा स्त्री-पुरुष में से किसी एक को ही अग्निहोत्र करना पड़े तो उसकी पूर्ण विधि निम्न प्रकार होगी—

१.	**ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना-उपासना मन्त्र**	८
२.	**आचमन**	३
३.	**अंगस्पर्श मन्त्र**	७
४.	**अग्निप्रज्वालन मन्त्र**	१
५.	**अग्न्याधान मन्त्र**	१

६.	**अग्निसमिन्धन मन्त्र**	**१**
७.	**समिदाधान मन्त्र**	**४**
८.	**पञ्चघृताहुति मन्त्र**	**१**
९.	**जलसेचन मन्त्र**	**४**
१०.	**आघाराज्यभाग-आहुतियाँ**	**२**
११.	**आज्यभाग-आहुतियाँ**	**२**
१२.	**जिस काल में यज्ञ हो उस काल की विशेष आहुतियां जैसे— 'सूर्योज्योतिः' अथवा 'अग्निर्ज्योतिः' आदि**	**४**
१३.	**''ओं भूरग्नये'' आदि मन्त्र**	**४**
१४.	**''ओं आपो ज्योतिः'' से ''अग्ने नय'' तक**	**४**

पुनः १६ आहुतियों की आवृत्ति

दो कालों का एक काल में करते समय आघारावाज्यभाग आहुतियाँ २ + आज्यभाग आहुतियाँ २ + दूसरे काल की चार विशेष आहुतियां ४ + ''भूरग्नये'' से ''अग्ने नय'' तक ८, = कुल १६ आहुतियों की पुनरावृत्ति करनी चाहिये।

दो के स्थान पर एक व्यक्ति द्वारा यज्ञ करते समय उसी काल की इन १६ आहुतियों की पुनरावृत्ति होगी।

१५. अधिक होम की इच्छा होने पर ''गायत्री मन्त्र'' ''विश्वानि देव'' से इच्छित आहुतियां।

१६. पूर्णाहुतियां ३

इस विधि से ही उक्त यज्ञ की विधि पूर्णता से सम्पन्न होगी। जो व्यक्ति एक काल में दोनों कालों का यज्ञ करते समय दूसरे काल विशेष की केवल चार आहुतियाँ देकर यज्ञ पूर्ण करते हैं, वे महर्षि-विरुद्ध तथा अपूर्ण यज्ञ करते हैं। यह जल्दबाजी में टालने की प्रवृत्ति है। कितनी विचित्र बात है कि एक काल का यज्ञ तो १६ आहुतियों से सम्पन्न हो रहा है और दूसरे काल का केवल चार आहुतियों से? यह विधि अनुचित है। ऐसा करने पर महर्षि की यह विधि पूर्ण नहीं होती कि ''सोलह-सोलह आहुति दें।''

दैनिक स्वाध्याय

स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः [शत० ११.५.६.३]
— स्वाध्याय को ब्रह्मयज्ञ कहा जाता है।
स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः [योग० २.४४]
—स्वाध्याय से इष्ट देव परमात्मा से सान्निध्य हो जाता है।

शास्त्रकारों ने स्वाध्याय को दिनचर्या और दैनिक पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत ब्रह्मयज्ञ का अंग मानकर इसे अनिवार्य घोषित किया है। स्वाध्याय के बिना ब्रह्मयज्ञ की पूर्णता नहीं होती। अतः प्रतिदिन यज्ञानुष्ठान के समय वेदादिशास्त्रों का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। इसके अतिरिक्त दिनचर्या में भी स्वाध्याय का समय नियत करना चाहिये। ऋषियों ने अध्ययन-अध्यापन को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है कि वेदादिशास्त्रों के अध्यापन को भी ब्रह्मयज्ञ अथवा स्वाध्याय घोषित किया है।

यद्यपि स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ का अंग है, किन्तु सन्ध्या-अग्निहोत्र में मन्त्रीय विधि एवं उपासना के तारतम्य को बनाये रखने के लिए अधिक सुविधाजनक यह है कि यज्ञ की सम्पन्नता के पश्चात् ही स्वाध्याय करें। दिनचर्या में, किसी भी सुविधाजनक समय को स्वाध्याय हेतु निर्धारित कर सकते हैं।[१८४]

स्वाध्याय का अर्थ—स्वाध्याय से यहां अभिप्राय ईश्वरीय, आध्यात्मिक या जीवन-निर्माण सम्बन्धी वेदादि शास्त्रों के अध्ययन, चिन्तन, मनन से है। व्युत्पत्ति एवं धात्वर्थ के अनुसार इसके अर्थ हैं—**१.** '**स्वस्य अध्ययनं स्वाध्यायः**' = आत्मनिरीक्षण अथवा आत्मचिन्तन करना

---

१८४. स्वाध्याय सम्बन्धी प्रमाणयुक्त विस्तृत विवेचन मेरी '**वैदिक नित्यकर्म एवं पञ्चमहायज्ञ मीमांसा**' नामक बृहत् पुस्तक में द्रष्टव्य है।

स्वाध्याय है। इसमें आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति अभीष्ट है। २. '**स्वयम् अध्ययनं स्वाध्याय:** = स्वयं वेदादि शास्त्रों का अध्ययन-चिन्तन-मनन करना। **३. सुष्ठु आवृत्य अध्याय: = वेदाध्ययनम्, स्वाध्याय:** = भली-भांति चिन्तन-मनन-पूर्वक वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय कहाता है। **४. ''सु + आ + अध्याय:'** = श्रेष्ठ वेदादि शास्त्रों का पूर्णत: श्रद्धाभाव से एकाग्र होकर अध्ययन करना। **५. ''सु + आ + ध्याय:'** = श्रेष्ठ बातों-विचारों का एकाग्रता के साथ चिन्तन-मनन करना, विशेषत: आध्यात्मिक बातों का।

स्वाध्याय किसका?—स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ का अंग है और ब्रह्म के दो प्रमुख अर्थ हैं—१. परमात्मा, २. वेद। इस आधार पर परमात्मा और वेद सम्बन्धी अध्ययन-चिन्तन-मनन ही स्वाध्याय कहा जायेगा। योगदर्शन के व्यासभाष्य में कहा है—''**स्वाध्याय: प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं वा**'' [२.१] = ओम् आदि ईश्वरीय नामों, गायत्री आदि मन्त्रों और मोक्षसाधक वेदादि शास्त्रों का अध्ययन-चिन्तन-मनन करना स्वाध्याय है। महर्षि दयानन्द लिखते हैं—''**तत्र ब्रह्मयज्ञस्यायं प्रकार: साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यगध्ययनं सन्ध्योपासनं च**'' [पं०म०वि०] = ब्रह्मयज्ञ की विधि यह है कि सांगोपांग वेदादि शास्त्रों का भलीभांति अध्ययन करना और सन्ध्योपासन करना। स्वाध्याय का यही अर्थ ब्राह्मणग्रन्थों तथा मनुस्मृति आदि स्मृतिशास्त्रों में बतलाया है।

स्वाध्याय कितना करें?—शास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य प्रतिदिन यथाशक्ति, यथासमय स्वाध्याय करे। किसी दिन थोड़ा समय मिले तो थोड़ा स्वाध्याय कर ले, किन्तु करे अवश्य। स्वाध्याय का त्याग नहीं होना चाहिये। थोड़े स्वाध्याय को हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि समय की गणना के अनुसार कम से कम १५—३० मिनट स्वाध्याय करना चाहिये और मन्त्रादि के अनुसार कम से कम एक मन्त्र का व्याख्यासहित अध्ययन करना चाहिये।

स्वाध्याय में प्रतिनिधित्व नहीं—आजकल यह मिथ्याचार देखने को मिलता है कि कुछ पंडित पैसे लेकर उसके नाम से किसी ग्रन्थ का पाठ करते हैं। स्वाध्याय आत्मा, मन, बुद्धि से जुड़ा आध्यात्मिक कर्म है, कोई व्यापार नहीं, जिसका एक-दूसरे से लेन-देन हो सके। जैसे भोजन करने

वाले को ही क्षुधातृप्ति और स्वास्थ्यलाभ मिलते हैं, भोजन का प्रबन्ध करने वाले को नहीं; उसी प्रकार स्वाध्याय भी आत्मा का भोजन है, कर्त्ता या श्रोता को ही उसका लाभ मिलेगा, अन्य को नहीं। अतः स्वाध्याय स्वयं करना चाहिये।

स्वाध्याय का महत्त्व एवं लाभ—स्वाध्याय आत्मा का उन्नतिकारक, ज्ञानवर्धक एवं जीवननिर्माण का अपूर्व साधन है। इसका महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है कि ऋषियों ने इसे प्रतिदिन अनुष्ठेय पञ्चमहायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ का अंग और योगदर्शन में योगसिद्धि का एक अंग माना है। स्वाध्याय के बिशिष्ट महत्त्व को देखते हुए ही शास्त्रों में इसे नैत्यिक अनिवार्य कर्म घोषित किया है—

"**स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः........ तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**"

[शत० ११.५.६.३-९]

—स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ को कहते हैं, इसलिए ब्रह्मयज्ञ के सदृश स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिये।

"**स्वाध्यायं सततं कुर्यात्, न पचेदन्नमात्मनः**"

[या०स्मृ०आ० १०४]

—प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करे, स्वाध्याय किये बिना भोजन नहीं करना चाहिये।

"**सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः**" [मनु० ४.१७]

—स्वाध्याय में बाधक सभी कामों को छोड़ देवे, किन्तु स्वाध्याय को न छोड़े।

"**स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्**" [मनु० ३.७५; ६.८]

—स्वाध्याय में मनुष्य नित्य संलग्न रहे।

"**स्वाध्याये चैव नैत्यके........ नास्त्यनध्यायः**" [मनु. २.१०५, १०६]

—नित्यकर्म के रूप में अनुष्ठेय स्वाध्याय में कभी अवकाश नहीं होना चाहिये।

"**स्वाध्यायान्मा प्रमद**" [तै०उ० १.१०.१]

—स्वाध्याय में कभी प्रमाद मत करो।

ऋषियों ने स्वाध्याय को इतना महत्त्व इस कारण दिया है कि स्वाध्याय के व्यावहारिक एवं पारमार्थिक अनेक लाभ हैं। स्वाध्याय में इतनी प्रबल शक्ति है कि वह मिट्टी को सोना बना देता है, मूर्ख को ज्ञानी बना देता है, मूढ़ को तार्किक बना देता है, भोगी को योगी बना देता है। मनुष्य ज्ञान-समृद्ध बनकर जीवन का निर्माण कर सकता है, जीवन को उन्नति के पथ पर ले जाता है। वह मोक्ष का अधिकारी बनता है—

"स्वाध्यायेन व्रतैः होमैः......... ब्राह्मीयं क्रियते तनुः"

[मनु० २.२८]

—स्वाध्याय, सत्याचरण आदि व्रतों, यज्ञों से जीवन ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य बनता है।

"यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु।। [मनु० २.१०७]

—जो व्यक्ति स्वच्छ-पवित्र होकर जलवर्षक मेघ के सदृश स्वाध्याय को एकाग्रता और विधिपूर्वक अनुष्ठित करता है, उसके लिए यह स्वाध्याय दूध, दही, घी और मधु को बरसाता है, अर्थात् इन पदार्थों को खाने से जैसे शरीर तृप्त, पुष्ट, बलशाली और नीरोग हो जाता है, वैसे ही स्वाध्याय से जीवन शान्ति, गुणों, ज्ञान, पुण्य एवं आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है।

योगदर्शनकार स्वाध्याय को परमात्मप्राप्ति का साधन मानते हैं। वे स्वाध्याय का फल वर्णित करते हुए कहते हैं—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः [योग० २.४४]

—'स्वाध्याय [= वेदाध्ययन, जप आदि] से इष्टदेव परमात्मा से सान्निध्य हो जाता है।'

योगदर्शन के व्यासभाष्य में स्वाध्याय से परमात्मप्राप्ति की प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

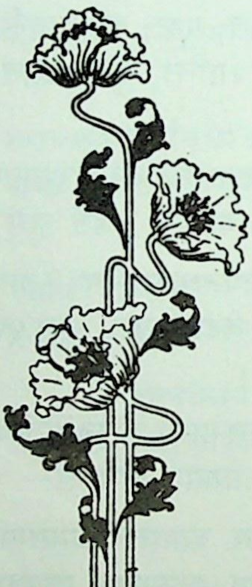
"स्वाध्यायात्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।। [योग०व्या०भा० १.१८]

—वेदादिशास्त्रों के अध्ययन से और प्रणव-जप से चित्तवृत्ति का निरोध करे, चित्तवृत्ति का निरोध करके स्वाध्याय का अभ्यास [=

चिन्तन-मनन] करे, इस प्रकार स्वाध्याय और योग की साथ-साथ होने वाली समृद्धि से परमात्मा का ज्ञान हो जाता है।

स्वयं वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, स्मृतियों आदि ग्रन्थों में सैंकड़ों स्थलों पर स्वाध्याय की महिमा को स्पष्ट करने के लिए ऋषियों ने कहीं स्वाध्याय को परमतप, कहीं परमश्रम, तो कहीं परमधर्म, योग, स्कन्ध, देवत्वप्राप्ति और अमृतप्राप्ति का साधन कहा है। (इस विषयक विस्तृत विवेचन तथा प्रमाण मेरी **'वैदिक नित्यकर्म एवं पञ्चमहायज्ञ मीमांसा'** नामक बृहत् पुस्तक में द्रष्टव्य हैं।)

शास्त्रों के उक्त आदेशों का पालन करते हुए और स्वाध्याय के लाभों को देखते हुए प्रतिदिन ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत और अन्य समय में भी वेदादि सच्छास्त्रों का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। इसके लिए समय का निर्धारण नियमित रूप से कर लेना चाहिये। इस प्रकार शीघ्र ही आप स्वयं स्वाध्याय के लाभों का अनुभव करने लगेंगे।



बृहद्‌यज्ञ-विधि

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः [मनु० २.२८]
— महायज्ञों और यज्ञों के अनुष्ठान से जीवन ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनता है।

महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि में संस्कारों के अवसर पर बृहद्‌यज्ञ का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त पक्षयाग आदि का भी निर्देश है। यह इस बात का द्योतक है कि जब भी कोई विशेष अवसर हो अथवा अधिक यज्ञ करने की इच्छा हो तो बृहद्‌यज्ञ की विधि का अनुष्ठान किया जाना चाहिये। प्राचीन परम्परा में यज्ञ के अतिरिक्त विशेष अवसरों पर भी स्वस्तिवाचन एवं शान्तिकरण कर्म करने की परम्परा रही है। (द्रष्टव्य अग्रिम पृष्ठ पर टिप्पणी)। आर्यसमाजों में, घरों में, साप्ताहिक सत्संग की परम्परा प्रचलित है। उस अवसर पर भी बृहद्‌यज्ञ का अनुष्ठान किया जाना चाहिये, क्योंकि दैनिक अग्निहोत्र के अतिरिक्त सभी अवसर साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, गृहप्रवेश आदि विशेष अवसरों के अन्तर्गत ही आते हैं। महर्षि लिखते हैं—"**जिसके घर में अभाग्य से अग्निहोत्र न होता हो तो सर्वत्र पक्षयागादि में...... ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण भी यथायोग्य करें।**"[सं०वि०] बृहद्‌यज्ञ की विधि एवं क्रम निम्न प्रकार होंगे—

१. सन्ध्या-उपासना
२. ईश्वरस्तुति-प्रार्थना-उपासना (आठ मन्त्रों से)
३. स्वस्तिवाचन
४. शान्तिकरण
५. दैनिक यज्ञ (आचमन अंगस्पर्श से "**अग्ने नय सुपथा.....**" मन्त्र तक)

६. "**भूरग्नये स्वाहा**" आदि ४ व्याहृति-आहुतियां
७. "**भूर्भुवः स्वः। अग्ने......**" आदि १२ आज्याहुति मन्त्राहुतियां
८. गायत्री मन्त्र से ३ आहुतियां
९. स्विष्टकृत् आहुति
१०. प्राजापत्याहुति एक
११. पूर्णाहुति तीन
१२. भजन, प्रार्थना, प्रवचन, शान्तिपाठ एवं उद्घोष।
१३. यज्ञशेष वितरण

सन्ध्या-उपासना, ईश्वरस्तुति-प्रार्थना-उपासना तथा दैनिक अग्निहोत्र के मन्त्र अर्थसहित पूर्व दिये जा चुके हैं। शेष मन्त्र अर्थसहित निम्न हैं–

अथ स्वस्तिवाचनम्[१८५]

विशेष कथन–'सु + अस्ति' इन दो पदों के योग से समस्त पद 'स्वस्ति' बनता है जिसका भाव है–'ऐसा कर्म जिसमें सब कुछ अच्छा ही अच्छा, शोभन ही शोभन हो।' अर्थात् सभी प्रकार का सुख, मंगल और कल्याण।

---

१८५. **स्वस्तिवाचन परम्परा**–स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। क्रियमाण कर्म के अतिरिक्त भविष्य के मंगल अथवा कल्याण के लिए स्वस्तिवाचन किया जाता था और अनिष्ट अथवा उत्पात की शान्ति हेतु शान्तिकरण। जब राम वनवास को जाते हैं तो माता कौशल्या उनके लिए 'स्वस्तिवाचन' कर्म सम्पन्न करती है–

अभिवाद्य तु कौसल्यां रामः सम्प्रस्थितो वनम्।
कृतस्वस्त्ययनो मात्रा धर्मिष्ठे वर्त्मनि स्थितः।। [वा०रा० अयो० २६.१]

–'धर्म के मार्ग पर स्थित राम माता द्वारा स्वस्तिवाचन कर्म सम्पन्न करने के उपरान्त उन्हें प्रणाम करके वहाँ से वन के लिए प्रस्थित हो गये।'

वा०रा०अयो० २५ सर्ग में स्वस्तिवाचन कर्म का वर्णन है, वहां इन्हीं वेदमन्त्रों का सार ग्रहण किया गया है। ऋषि विश्वामित्र के साथ प्रस्थान करते समय भी राजा दशरथ और माता कौसल्या तथा महर्षि विश्वामित्र ने स्वस्त्ययन-कर्म किया था–"**कृतस्वस्त्ययनं मात्रा पित्रा दशरथेन च। पुरोधसा वसिष्ठेन मंगलैरभिमन्त्रितम्।**" [बाल० १२.२]

स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण मन्त्र वेदों और वेदों पर आधारित वैदिक संस्कृति की महानता, उच्चाशयता, उदारता, परोपकारप्रियता तथा दयालुता के प्रतीक हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति प्रतिदिन यज्ञ में या विशिष्ट अवसरों पर प्रत्येक के कल्याण और सुख-शान्ति की प्रार्थना-कामना करता है। जहां यज्ञ के अवसर पर इतने उच्च संस्कार निर्मित किये जाते हैं, जहां इतनी उच्च भावनाएं कूट-कूट कर भरी जाती हैं, ऐसे समाज और संस्कृति 'वैदिक समाज' के अतिरिक्त दुर्लभ हैं। आज के स्वार्थ एवं भौतिकता प्रधान युग में इन विचारों का विशेष महत्त्व एवं आवश्यकता है। इन्हीं विचारों से सच्चे मानव और समाज का निर्माण हो सकता है।

स्वस्ति का अर्थ है–'कल्याण या मंगल' और वाचन का अर्थ है–'पाठ' या 'उच्चारण'। स्वस्तिवाचन = कल्याण या मंगल की प्रार्थना करने के लिए मन्त्रों का उच्चारण करना।

विधि–निम्नलिखित मन्त्रों से यज्ञ में सम्मिलित प्रत्येक व्यक्ति को परमपिता परमात्मा से अपने तथा दूसरों के लिए कल्याण की प्रार्थना करनी चाहिये। मन्त्रों का उच्चारण अर्थचिन्तन सहित करना चाहिये। स्वस्तिवाचन के मन्त्र अर्थसहित निम्न हैं–

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।।१।।

मन्त्रार्थ–मैं (यज्ञस्य)[१८६] इस यज्ञानुष्ठान और सृष्टि-यज्ञ के (पुरोहितम्)[१८७] सर्वाग्रणी = सबसे पूर्व विद्यमान, सबसे प्रमुख और प्राप्त करने के उद्देश्य से जिसको एकमात्र उपासनीय माना जाता है, उसको

१८६. **यज्ञः**–'यज-देवपूजासंगतिदानकरणदानेषु' धातु से "**यजयाच..... नङ्**" [अ० ३.३.९०] से 'नङ् प्रत्यय होकर यज्ञ पद सिद्ध होता है। अग्निहोत्र के अतिरिक्त इसका सृष्टियज्ञ भी अर्थ है–"**यज्ञो वै भुवनम्**" [तै० ३.३.७.५], "**यज्ञः = सङ्गतः संसारः**" [म०दया०ऋ०भा० १.१८.७]

१८७. **पुरोहितम्**–"**पुर एनं दधति** [निरु० २.१२] = जिसको लोग आगे रखते हैं, सर्वाग्रणी मानते हैं। "**यः पुरस्ताद् सर्वं जगत् दधाति**" [म०दया०ऋ०भा० १.१.१] जैसा कि इस मन्त्र में वर्णन है–"**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**" [यजु० १३.४]

(देवम्) प्रकाशक (ऋत्विजम्)[१८८] ऋतु अर्थात् समयानुसार इसका संचालन-धारण करने वाले, (होतारम्)[१८९] रचना के समय इसे अपने आश्रय में लेने वाले अर्थात् निमित्तकारण (रत्नधातमम्)[१९०] सभी रमणीय पदार्थों और धनों के धारणकर्त्ता (अग्निम्)[१९१] सर्वत्र गतिशील एवं प्रकाशस्वरूप अग्निसंज्ञक परमात्मा की (ईले)[१९२] स्तुति करता हूं।।१।।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये।।२।।

[ऋ०मं० १ । सू० १ । मं० १, ९।।]

अर्थ–(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (सूनवे पिता इव) पुत्र के लिए पिता जैसे हितकारी एवं सुलभ होता है, उसी प्रकार आप हमारे लिए (सूपायनः)[१९३] उत्तम ज्ञान, पदार्थ आदि देकर हितकारी एवं शीघ्र

---

१८८. **ऋत्विजम्–"य ऋतौ ऋतौ प्रत्युत्पत्तिकालं संसारं सङ्गतं यजति करोति तथा च शिल्पसाधनानि सङ्गमयति, सर्वेषु ऋतुषु यजनीयस्तम् परमेश्वरम्"** [म०दया०ऋ०भा० १.१.१] **ऋतुपूर्वक यज धातु से क्विन् प्रत्यय** [अ० ३.२.५९]।

१८९. **होतारम्–"सर्वजगति सर्वपदार्थानां दातारम्, –वर्तमानप्रलययोः समये सर्वस्य जगतो ग्रहीतारम्–आधारभूतम्–परमेश्वरम्"** [म० दया ०ऋ० भा० १.१.१]" **सर्वस्य धर्तारं दातारं वा"–परमेश्वरम्** [०ऋ०भा० ६.१४.२]। 'हु–दानाआदानयोः' धातु से तृच् प्रत्यय।

१९०. **रत्नधातमम्–"रमणीयानां धनानां दातृतमम्"** [निरु० ७.१५]। **रत्नपूर्वक 'डुधाञ्–धारणपोषणयोः'** धातु से क्विप् या तमप् प्रत्यय।

१९१. **अग्निम्–"अग्निः कस्माद् अग्रणीर्भवति"** [निरु० ७.१४], **"अग्निर्वै... प्रजापतिः"** [शत० ३.९.१.६] **"अग्निरेव ब्रह्म"** [शत० १०.४.१.५]। **'अगि-गतौ'** धातु से **"अङ्गेर्नलोपश्च"** [उणा० ४.५०] से निः प्रत्यय और न लोप।

१९२. **"ईले= याचामि। ईलिरध्येषणकर्मा पूजाकर्मा वा"** [निरु० ७.१५]। **'ईड-स्तुतौ'** धातु का लट् प्रयोग।

१९३. **सूपायनः–"सुष्ठु उपगतमयनं ज्ञानम्, सुखसाधनम्, पदार्थप्रापणं यस्मात् सः"–जगदीश्वरः"** [म०दया०ऋ०भा० १.१.९]। **सु+ उप+ अयन** पदों का समस्तरूप है। **अयनम्= 'अय गतौ'** धातु से ल्युट् प्रत्यय।

प्राप्त होने वाले (भव) होइये, आप (नः स्वस्तये)[१९४] हमारे कल्याण के लिए (सचस्व)[१९५] हमें अपने से युक्त कीजिये। हम आपकी भक्ति करके अपना कल्याण करने में समर्थ बनें, ऐसी कृपा कीजिये।।२।।

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना।।३।।

अर्थ—हे परमेश्वर आपकी कृपा से (अश्विना)[१९६] सूर्य और चन्द्र (नः स्वस्ति मिमीताम्) हमारे लिए कल्याणकारी सिद्ध हों (भगः स्वस्ति)[१९७] समस्त धन-ऐश्वर्य हमारे लिए कल्याणसाधक होवें (देवी अदितिः)[१९८] दिव्यगुणों से भरपूर यह पृथिवी, और (अनर्वणः)[१९९] इस पर स्थित अचल पर्वत आदि (स्वस्ति) कल्याणकारी हों, (पूषा[२००] असुरः[२०१]) पुष्टिकारक अन्न और जीवनदायक जल या मेघ (स्वस्ति दधातु) कल्याण प्रदान करें, (द्यावापृथिवी) ये समस्त द्युलोक और पृथिवी लोक (सु

१९४. **स्वस्तये**—"**स्वस्तये—स्वस्त्ययनाय**" [निरु० ५.२७], "**अस्ति** = **अभिपूजितः, सु—अस्तीति** [निरु० ३.२२]

१९५. **सचस्व**—'**षच-समवाये**' धातु का लोट् प्रयोग। "**सचस्व** = **समवेहि, प्राप्नुहि**" [म०दया०ऋ०भा० १.१२९.९], "**संयोजय**" [यजु०भा० ३.२४]

१९६. **अश्विना—अश्विनौ** = **आशुगामिनौ**। "**सूर्याचन्द्रमसौ**" [म० दया० यजु० भा० २०.५८]। अश्व शब्द से 'इनिः' प्रत्यय अथवा 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु से 'विनि' प्रत्यय।

१९७. **भगः**—"**भगः धननाम**" [निघ० १.१]। 'भज-सेवायाम्' धातु से 'घः' प्रत्यय।

१९८. **अदितिः**—"**अदितिः—पृथिवी नाम**" [निघ १.१]। "**इयं वै पृथिवी—अदितिः**" [शत० १.१.४.५; ५.३.१.४; ६.५.१.१०; तै० १.७.६.७; कौ० ७.६] 'दो-अवखण्डने' धातु से क्तिन् प्रत्यय। न दितिः अदितिः।

१९९. **अनर्वणः**—ऋ-गतिप्रापणयोः' धातु से [अ० ३.२.७५] वनिप् प्रत्यय। अर्वा = **गतिशील, न** + **अर्वा** = **अनर्वा** = **अगतिशील पदार्थ।**

२००. **पूषा**—'पूष-पुष्यै' धातु से कनिन् प्रत्यय। "**अन्नं वै पूषा**" [कौ० १२.८]

२०१. **असुरः**—"**असुरः मेघनाम**" [निघ० १.१०]। '**असुरिति प्राणनाम**' [निरु० ३.८] **तान् राति इति मेघः जलम् वा।**

चेतुना) उत्तम ज्ञान से (नः स्वस्ति) हमारे लिए कल्याणकारी बनें। अर्थात्–परमात्मा की कृपा से इन सबका उत्तम ज्ञान एवं सही उपयोग करके अपना कल्याण करें।।३।।

स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः।।४।।

अर्थ–हम (वायुम्)[२०२] सर्वत्र गतिशील एवं बलशाली (सोमम्)[२०३] ऐश्वर्य देने वाले परमात्मा को (उप ब्रवामहै) स्तुति-प्रार्थना-उपासना से अपने समीप बुलाते हैं–उसका सामीप्य प्राप्त करते हैं, (यः भुवनस्य पतिः) वही जो इस संसार का स्वामी है (स्वस्ति) वह हमारा कल्याण करे। हम (बृहस्पतिम्)[२०४] वेदवाणी के स्वामी और समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी परमात्मा को (सर्वगणम्) समस्त उत्तमगुणों के समूहों सहित (स्वतस्तये) कल्याण के लिए समीप बुलाते हैं, (आदित्यासः)[२०५] ईश्वर के वे उज्ज्वल दिव्यगुण (नः) हमारे (स्वस्तयें) कल्याण के लिए (भवन्तु) होवें अर्थात् उनको धारण करके हम भी अपने जीवन का कल्याण करने में समर्थ बनें।।४।।

विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः।।५।।

---

२०२. **वायुम्–'वा गतिगन्धनयोः'** धातु से **"कृवापाजि"** [उणा० १.१] सूत्र से उः प्रत्यय। **"वायु–वातेर्वेत्तेर्वा स्यात् गतिकर्मणः"** [नि० १०.१]। **"वायुर्ह्येव प्रजापतिः"** [ऐ० ४.२६], **"योऽयं (वायुः) पवते स एष एव प्रजापतिः"** [जै०उ० १.३४.३], **"ऐतद्वै प्रजापतेः प्रत्यक्षं रूपं यद् वायुः"** [कौ० १९.२]।

२०३. **सोमम्–'षु प्रसवैश्वर्ययोः'** धातु से **"अर्त्तिस्तुसुहृ०"** [उणा० १.१४०] सूत्र से मन् प्रत्यय। **"सोमो हि प्रजापतिः"** [शत० ५.१.५.२६]।

२०४. **बृहस्पतिम्–"बृहतः पाता वा पालयिता वा"** [नि० १०.१२], **"ब्रह्म वै बृहस्पतिः"** [ऐ० १.१३], **"बृहस्पते ब्रह्मणस्पते"** [तै० ३.११]। बृहत्+ पति पदों में समासपूर्वक **"तद् बृहतोः करपत्योः....."** [अष्टा० ६.१.१५७] सूत्र से सुट् आगम त का लोप।

२०५. **आदित्यासः–'दो-अवखण्डने'** धातु से क्तिन् प्रत्यय। न दितिः, अदितिः = अखण्डनीय ईश्वर। **'अदितेः गुणाः आदित्यासः'** असुक् आगम।

अर्थ—(वैश्वानरः[२०६] वसुः[२०७] अग्निः) समस्त प्राणियों को गति= जीवन देने वाला, सबको बसाने वाला और स्वयं सर्वत्र गतिशील परमात्मा (स्वस्तये) कल्याणकारी होवे, (विश्वे देवाः)[२०८] परमात्मा द्वारा प्रदत्त सभी दिव्य पदार्थ या उसकी दिव्य शक्तियां (नः) हमारे लिए (अद्य)[२०९] आज = शीघ्र (स्वस्तये) कल्याणकारी होवें। (देवाः ऋभवः)[२१०] ज्ञान-प्रकाश से दीप्त ज्ञानी जन (स्वस्तये अवन्तु) कल्याण के हेतु से हमारी रक्षा करें—उत्तम संग, उपदेश एवं मार्गदर्शन द्वारा, (रुद्रः)[२११] दुष्टों को दण्ड देने वाला जगत् का शासक परमात्मा (नः) हमें (अंहसः पातु) पापों से दूर रखे, जिससे (स्वस्ति) हमारा कल्याण हो।।५।।

स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति।
स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि।।६।।

अर्थ—(मित्रावरुणा)[२१२] प्राण और अपान (स्वस्ति) कल्याणकारी

---

२०६. **वैश्वानरः**—विश्व-नर पदों के समास में अण् प्रत्यय। "**वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान् नरान् नयति**" [नि० ७.२१] "आत्मा वैश्वानरः" [तै०सं० ५.६.६.३]।

२०७. **वसुः**—'**वस-निवासे**' धातु से '**शृस्वृस्निहि०**" [उणा० १.१०] सूत्र से उः प्रत्यय। "**वसुः वासयिता**" [ऋ०दया०भा० ऋ १.९४.१३]।

२०८. **विश्वेदेवाः**—**विश्वे** = **सर्वे, देवाः** = **दिव्यगुणाः**। विश्व+ देव पदों के समास में जस् को असुक्। "**देवाः** = **दिव्यगुणाः**" [ऋ०दया०भा०ऋ० १.१२३.१]

२०९. **अद्य**—"**अस्मिन्नहनि अद्य, अस्मिन् द्यवि**" [निरु० १.६]। "**अस्मिन् वर्तमान समये**" [ऋ०दया०भा०यजु० १५.४४; ऋ० ५.५८.३] "**इसी समय में**" [आर्या० २५३, ३२.१४; स०प्र० २४६]।

२१०. **ऋभवः**—"**ऋभुरिति मेधावी नाम**" [निघ० ३.१५]। **ऋभवः** + **मेधाविनः**। "**ऋतेन भान्तीति वा**" [निरु. ११.१५]।

२११ **रुद्रः**—'**रुदिर्-अश्रुविमोचने**" धातु से "**रोदेर्णिलुक् च**" [उणा० २.२२] सूत्र से रक् प्रत्यय णि को लुक्। "**रुद्रः—रोदयतेर्वा**" [नि० १०.६]। "**दुष्टों को रुलाने वाले ईश्वर**" [१.४५]।

२१२. **मित्रावरुणा**—"**प्राणापानौ मित्रावरुणौ**" [तां० ६.१०.५], "**प्राणौ वै मित्रोऽपानो वरुणः**[शत० ८.४.२.६]

होवें, (रेवति)[२१३] जल या नदियां (पथ्ये)[२१४] लाभप्रद मार्गों पर अविरुद्ध भाव से अर्थात् हानिरहित और लाभदायक रूप में बहती हुई (स्वस्ति) कल्याणकारी होवें, (इन्द्रः[२१५] च अग्निः[२१६]) वायु और विद्युत् (नः स्वस्ति) हमारे लिए कल्याणकारी होवें, (अदिते)[२१७] हे अखण्ड परमेश्वर! (नः स्वस्ति कृधि) आप हमारा कल्याण करो और आपकी कृपा से उपर्युक्त सभी पदार्थ कल्याणकारी सिद्ध होवें।।६।।

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि।।७।।

अर्थ—हे परमेश्वर आपकी कृपा से हम (सूर्य-चन्द्र-मसौ इव) सूर्य और चन्द्रमा के समान [निर्बाध गति एवं उपकारक भाव से] (स्वस्ति पन्थाम् अनुचरेम्) कल्याणकारी मार्गों का अनुसरण करें, (ददता)[२१८] उत्तम दान, शिक्षा सहयोग आदि देने वाले के साथ, (अघ्नता)[२१९] अहिंसक अर्थात् पीड़ा न देने वाले, हानि-बाधा न पहुँचाने वाले, वैर-ईर्ष्या न रखने वाले के साथ और (जानता)[२२०] ज्ञानी जन के साथ

---

२१३. **रेवति—"रैवत्यः—नदी नाम'** [निघ० १.१३], **"रेवत्यः आपः"** [शत० १.२.२.२], **"आपो वै रेवतीः"** [तै० ३.२.८.२], **"आपो वै रेवत्यः"** [तां० ७.९.२०]

२१४. **पथ्ये—पथिषु साध्वी पथ्या।**

२१५. **इन्द्रः—"यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः"** [शत० ४.१.३.१९], **"अयं वा इन्द्रो योऽयं वातः पवते"** [शत० १४.२.२.६]।

२१६. **अग्निः**—पृथ्वी पर प्रत्यक्ष अग्नि, **अन्तरिक्ष में विद्युत् और द्युलोक में सूर्य ये तीनों अग्नि के ही रूप हैं।**

२१७. **अदिति—न दिति अदिति = अखण्डनीय परमेश्वर। 'दो-अवखण्डने'** धातु से क्तिन् प्रत्यय।

२१८. **ददता—'डुदाञ्-दाने'** धातु से शतृ प्रत्यय। **"ददता = दानकर्त्रा"** [ऋ०दया०भा०ऋ० ५.५१.१५]

२१९. **अघ्नता**—हिंसार्थक हन् धातु से शतृ प्रत्यय, नञ् समास। **"अघ्नता = अहिंसकेन विदुषा"** [ऋ०दया०भा० ५.५१.१५]।

२२०. **'ज्ञा-अवबोधने'** धातु से शतृ प्रत्यय, ज्ञा को जा आदेश। **"जानता = विदुषा (जनेन)"** [ऋ०दया०भा० ५.५१.१५]

(पुनः) बार-बार अर्थात् सदैव (सं गमेमहि) संग करें, अन्यों के साथ नहीं, क्योंकि उनका संग अकल्याणकारी है।।७।।

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।।८।।

[ऋ०म० ७ । सू० ३५।।]

अर्थ–(देवानाम्) विद्वानों में (यज्ञियानाम्)[२२१] यजनीय = संगति करने योग्य, श्रेष्ठ, पूज्य व्यक्तियों में भी (ये यज्ञियाः) जो अधिक संगति करने योग्य, श्रेष्ठ, पूज्य विद्वान् हैं, जो (मनोः यजत्रा) मनुष्य मात्र के आदरणीय हैं, और (अमृताः[२२२] ऋतज्ञाः[२२३]) अमरतत्त्व परमात्मा को तथा सत्यविद्याओं को जानने वाले हैं, (ते) वे (अद्य)[२२४] आज अर्थात् शीघ्रातिशीघ्र (नः) हमें (उरुगायम्)[२२५] सबके द्वारा स्तुत्य एवं उपासनीय परमात्मा को (रासन्ताम्) प्राप्त करायें। हे उत्कृष्ट विद्वानो! (यूयम्) आप लोग (नः) हमारी (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी उपदेशों से, कार्यों से (सदा पातः) सदा रक्षा करें।।८।।

येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये।।९।।

---

२२१. **यज्ञियानाम्**–यज्ञ प्रातिपदिक से '**तदर्हतीत्यर्थे**' "**यज्ञऋत्विग्भ्यांघखञौ**" [अष्टा० ५.१.७१] वार्तिक से 'घः' प्रत्यय, घ को 'इय' आदेश। "**यज-देवपूजासंगतिकरणदानेषु**' धातु से 'नङ्' प्रत्यय होकर 'यज्ञ' शब्द बनता है, जिसका संगतिकरण भी अर्थ है।

२२२. **अमृताः**–'**मृङ्-प्राणत्यागे' धातु से क्तः प्रत्यय, नञ् समास। अमृत = अमरणधर्मा** [निरु० २.२०], "**प्रजापतिर्वा अमृतः**" [शत० ६.३.१.१७], "**यदमृतं तद्ब्रह्म**" [गो०पू० ३.४]

२२३. **ऋतज्ञाः**–**ऋत उपपदपूर्वक** '**ज्ञा-अवबोधने**' धातु से कः प्रत्यय। '**ऋतज्ञाः सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा**" [निरु० ११.१८]। '**ये ऋतं सत्यं जानन्ति ते ऋतज्ञाः।**'

२२४. **अद्य**–द्रष्टव्य मन्त्रसंख्या ५ पर टिप्पणी सं० २०९।

२२५. **उरुगायम्**–**उरु उपपदपूर्वक गायतेः धातोः घञर्थे कः प्रत्ययः।** "**उरुगायस्य विष्णोर्महागतेः**" [निरु २.८]। '**उरुगायम् = बहुभिः प्रशंसनीयम्, बहुभिर्गीयमानम्।**' "**उरु-बहुनाम**" [निघ० ३.१]

अर्थ—हे प्रभो! (माता)[२२६] पृथिवी माता (येभ्यः) जिन उत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न महापुरुषों के लिए (मधुमत् पीयूषं पयः पिन्वते) मधुर, अमृततुल्य जल या रस को प्रदान करती है, और (द्यौः) द्युलोक एवं (अद्रिबर्हाः[२२७] अदितिः[२२८]) मेघों से भरपूर आकाश जिनके लिए मधुर अमृततुल्य वृष्टि-जल को बरसाता है, (उक्थशुष्मान्)[२२९] प्रशंसनीय बल वाले (वृषभरान्) ज्ञान की वर्षा करने वाले (स्वप्नसः) उत्तम कर्म करने वाले (तान् आदित्यान्)[२३०] उन तेजस्वी पुरुषों अथवा पृथिवी माता के अथवा ईश्वर के प्रसिद्ध, श्रेष्ठ विद्वान् पुत्रों को (स्वस्तये) हमारे कल्याण को सिद्ध करने के लिए (अनुमद) प्रसन्न करो। प्रसन्न होकर ही वे हमारा कल्याण करेंगे।।९।।

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद् देवासो अमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये।।१०।।

अर्थ—(नृचक्षसः)[२३१] मनुष्यों के अच्छे-बुरे व्यवहारों की परीक्षा करने की योग्यता रखने वाले (अनिमिषन्तः)[२३२] सदा सतर्क-सावधान

---

२२६. **माता—"(पृथिवी) इयं वै माता** [तै० ३.८.९.१; शत० १३.१.६.१]

२२७. **अद्रिबर्हाः—"अद्रि मेघनाम"** [निघ० १.१०]। **'बृह्-वृद्धौ'** धातु के आधार पर इसका अर्थ हुआ—मेघों से बढ़ा हुआ= भरपूर।'

२२८. **अदितिः—"अदितिः.......अन्तरिक्षम्"** [ऋ० १.८९.१०]।

२२९. **उक्थशुष्मान्**—उक्थ+ शुष्म पदों का समस्तरूप। **उक्थम्= उक्तम्= प्रशंसितम्, शुष्मम्= बलम्, येषां ते। "शुष्मम्= बलनाम"** [निघ० २.९]।

२३०. **आदित्यान्—अदिति** पृथिवी और ईश्वर का नाम है। अदिति के पुत्र आदित्य कहलाते हैं। सभी मनुष्य पृथ्वी के पुत्र हैं, वह माता के समान है। अदिति= अखण्डनीय ईश्वर के पुत्र या उपासक होने से ईश्वरोपासक जन 'आदित्य' कहलाते हैं। आदित्य सूर्य को कहते हैं। उसके समान तेजस्वी होने से 'तेजस्वी जन' भी आदित्य कहलाते हैं, जैसे 'आदित्य ब्रह्मचारी वर्ग।'

२३१. **नृचक्षसः—नृ उपपदपूर्वक 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, अयं दर्शनेऽपि'** धातु से असुन्। **'नॄन् चक्षन्ते परीक्षां कुर्वन्ति नृचक्षसः।' "ये वै विद्वांसस्ते नृचक्षसः"** [काठ० २१.१]।

२३२. **अनिमिषन्तः—"निमेषालस्यवर्जिताः"** [ऋ०दया०अ०ऋ० २.२७.९] **"अनिमिषा अनिमिषन्"** [निरु० ३.२२]।

(बृहद् देवासः) महाविद्वान् जन (अर्हणा)[२३३] अपनी विशेष योग्यता के कारण (अमृतत्वम्) आनशुः) अमरत्व= मोक्ष को प्राप्त करते हैं। (ज्योतिरथाः)[२३४] ज्ञान के रथ पर सदा आरूढ रहने वाले अर्थात् ज्ञानी जन (अहिमायाः)[२३५] अत्यधिक बुद्धि के धनी (अनागसः) पापरहित जन (दिवः वर्ष्माणं वसते)[२३६] द्युलोक के उच्चपद= सर्वोच्च परमपद मोक्ष को अथवा महिमामय उच्च स्थान= स्तर को प्राप्त करते हैं, वे सब (स्वस्तये) हमारा कल्याण करें।।१०।।

सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये।।११।।

अर्थ—हे मनुष्यो! (ये) जो लोग (सम्राजः)[२३७] अपने शुभगुणों से प्रकाशमान्= यशस्वी हैं, (सुवृधः)[२३८] शुभकर्मों से उन्नति करने-कराने वाले हैं,(अपरिह्वृता)[२३९] कुटिलता से रहित हैं (दिवि क्षयं[२४०] दधिरे) उच्च महिमामय निवास स्थान= स्तर पर आसीन हैं अथवा मोक्षपद को प्राप्त

---

२३३. **अर्हणा—'अर्ह-पूजायाम्' 'अर्ह-प्रशंसायाम्'** धातु से व्युत्पन्न।

२३४. **ज्योतिरथाः—'ज्योतिरेव रथं येषां ते।' "ज्योतिः= ज्ञानप्रकाशम्** [ऋ०दया०भा०ऋ० ६.४७.८]। **यथा—"तमसो मा ज्योतिर्गमय"** [बृह० उ० १.३.२८]।

२३५. **अहिमायाः—"अहि-मेघनाम"** [निघ० १.१०], **"माया-प्रज्ञानाम"** [निघ० ३.९]। **'अहेर्मेघस्य माया इव माया प्रज्ञा येषां ते।'**

२३६. **दिवः वर्ष्माणं वसते**—यह एक लाक्षणिक प्रयोग है। द्युलोक की उच्चता की समानता से मोक्षपद को इंगित किया जाता है, जैसे—**"तद्विष्णोः परमम् पदम्....दिवीव चक्षुराततम्"** [ऋ० १.२२.२०]।

२३७. **सम्राजः—'सम् पूर्वक 'राजृ-दीप्तौ'** धातु से क्विप्। **'यः सम्यक् राजते प्रकाशते सः सम्राट्।'**

२३८. **सुवृधः—'सु+वृधु-वृद्धौ'** धातु से क्विप्। **'ये सुष्ठुवर्धन्ते वर्धयन्ति वा ते सुवृधः।' सुवृधा सुवर्धयित्रा"** [निरु० ३.११]।

२३९. **अपरिहृताः—'परि+हृ-कौटिल्ये'** धातु से क्तः प्रत्यय, नञ् समास। **'सर्वतः कुटिलतादिरहिताः।'**

२४०. **क्षयम्—'क्षि-निवासगत्योः'** धातु से 'घः'। **"क्षयम्-निवासस्थानम्, निवासम्"** [ऋ०दया०भा०ऋ० ३.३.२; ३.११.७]

करने की योग्यता रखते हैं (तान् महः आदित्यान्)[२४१] उन महापूज्य तेजस्वीपुरुषों अथवा श्रेष्ठ ईश्वरपुत्रों, पृथिवीपुत्रों को, और (अदितिम्) अखण्ड परमेश्वर की (स्वस्तये) अपने कल्याण के लिए (नमसा)[२४२] नमस्कार= प्रार्थना—उपासना द्वारा, तथा (सुवृक्तिभिः)[२४३] उत्तम प्रशंसनीय वचनों= स्तुतियों द्वारा (आविवास) उत्तम सेवा-सत्कार करो, जिससे उनके संग से हमारा कल्याण हो सके।।११।।

को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन ।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये।।१२।।

अर्थ—(मनुषः विश्वे देवासः) हे मननशील समस्त विद्वानो! (वः) तुम्हारे लिए (स्तोमम्)[२४४] स्तुतिसमूहों= वेदमन्त्रों को (कः)[२४५] कसंज्ञक परमात्मा (राधति) सिद्ध करता है= रचता और प्रस्तुत करता है, उन स्तुतिमन्त्रों से फिर तुम (यं जुजोषथ) जिस (उसी) परमात्मा की स्तुति सेवन करते हो, और (यति स्थन)[२४६] सन्मार्ग में स्थित रहते हो। (तुविजाताः)[२४७] हे बार-बार जन्म ग्रहण करने वाले मनुष्यो अथवा

---

२४१. **आदित्यान्**—द्रष्टव्य स्वस्ति० मन्त्र ९ पर टिप्पणी २०५, २३०।

२४२. **नमसा**—**'णम-प्रह्वत्वे शब्दे'** धातु से घञ्। **'नमनं नमः।'**

२४३. **सुवृक्तिभिः**—सु+वृक्ति पदों में समास। **"सुष्ठु वृजन्ति गच्छन्ति याभिः वृक्तिभिः= स्तुतिभिः, क्रियाभिः वा'** [ऋ०दया०भा०ऋ० १.६१.३; ६.१५.४]।

२४४. **स्तोमम्**—**'ष्टुञ्-स्तुतौ'** धातु से **"अर्तिस्तुसु"** [उणा० १.१४०] सूत्र से मन् प्रत्यय। **"स्तोमः स्तवनात्"** [निरु० ७.२२]।

२४५. **कः**—**"कः वै प्रजापतिः"** [ऐ० ३.२१]। **"कः कमनोवा, क्रमणो वा, सुखो वा"** [निरु० १०.२२]। सुखस्वरूप, आनन्दस्वरूप होने से 'कः' परमात्मा का नाम है।

२४६. **यति स्थन**—**'यति 'इण्-गतौ'** धातु से शतृ प्रत्यय यणादेश। **"प्रयतन्ते यस्मिन् तस्मिन् (सन्मार्गे)"** [ऋ०दया०भा० ऋ० ७.४३.४]। **स्थन**—**'ष्ठा-गतिनिवृत्तौ'** धातु का लोट् लकार में छान्दसरूप। **स्थन**= तिष्ठत, भवत [ऋ०दया०भा०ऋ० ५.८७.६; यजु० १२.८३]

२४७. **तुविजाताः**—**'तुवि+ जात'** पदों का समस्तरूप। **"तुवि इति बहुनामसु पठितम्"** [निघ० ३.१]। **"तुविजातः बहुजातः"** [निरु० १२.३६]।

प्रसिद्ध विद्वानो! (वः) तुम्हारे लिए (कः) परमात्मा ने (अध्वरम्)[२४८] हिंसारहित यज्ञ को (अरं करत्) अलंकृत किया है, विधान करके प्रस्तुत किया है (यः) जो यज्ञ (नः) हमें (अंहः) पाप से (अति पर्षत्) पार ले जाता है = दूर हटाता है, (स्वस्तये) अपना कल्याण करने के लिए उस परमात्मा और उसके द्वारा विहित यज्ञ का सेवन करो।

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये।।१३।।

अर्थ—(मनुः)[२४९] विद्वान् मनस्वी जन ने(समिद्धाग्निः) अग्नि को प्रज्वलित करके (मनसा) श्रद्धायुक्त मन से (सप्तहोतृभिः)[२५०] सात होताओं अथवा प्रमुख सात इन्द्रियों के सहयोग से (येभ्यः) जिनके शिक्षण एवं अनुपालन के लिए (प्रथमां होत्राम्) प्रारम्भिक यज्ञक्रिया को (आयेजे) अनुष्ठित किया है, क्रियात्मक रूप से सम्पन्न किया है, (ते आदित्याः)[२५१] वे अदितिपुत्र= ईश्वरपुत्र उपासक जन अथवा पृथिवीपुत्र= सभी मनुष्य (अभयं शर्म यच्छत) भयरहित सुख को= सुखकारी वातावरण को प्रदान करें, और (नः स्वस्तये) हमारे कल्याण के

---

२४८. **अध्वरम्**—"**ध्वरति हिंसा कर्मा, तत्प्रतिषेधो निपातः**" [निरु० १.८; १.१४; २.१९]। "**अध्वर इति यज्ञनाम**" [निरु० १.७], "**अध्वरे = यज्ञे**" "**अध्वरम् + यज्ञम्**" [निरु० ६.१३; ८.६], **अध्वरो वै यज्ञः**" [शत० १.२.४.५; ४.१.३८.३९; ५.३.४.१०; ३.५.३.१७;], **यज्ञो वा अध्वरः**" [काठ० ३१.११]।

२४९. **मनुः**—'**मन-ज्ञाने**' धातु से "**शृस्वृस्निहि०**" [उणा० १.१०] सूत्र से उः प्रत्यय। "**मनुः मननात्**" [नि० १२.३४], **ये विद्वांसस्ते मनवः**" [शत० ८.६.३.१८]।

२५०. **सप्तहोतृभिः**—सप्त + होता। "**इन्द्रियं वै सप्तहोता**" [तै० २.२.८.२]। दो आंख, दो कान, दो नाक और मुख, ये सात होता है, जो विचारों, दृश्यों आदि को ग्रहण करते हैं और उन्हें चित्त को सम्प्रेषित करते हैं। **अथवा**—यज्ञ को सम्पन्न करने वाले सात ऋत्विज जन। ऋ० २.१.२ में वे इन नामों से उल्लिखित हैं—१. होतृ, २. पोतृ, ३. नेष्टृ, ४. आग्नीघ्र, ५. प्रशास्तृ, ६. अध्वर्यु, ७. ब्रह्मा।

२५१. **आदित्याः**—स्व० मन्त्र ९ पर टिप्पणी द्रष्टव्य है २०५, २३० ।

लिए (सुपथा सुगा[२५२] कर्त[२५३]) उत्तम मार्गों को सुगम बनावें अर्थात् हम सब भयरहित, सुखकारी वातावरण में रहें और उत्तम मार्गों पर परस्पर सहयोग से चलें तथा विद्वान् मार्गदर्शन द्वारा हमारा मार्ग प्रशस्त करें।।१३।।

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये।।१४।।[२५४]

अर्थ—हे परमेश्वर! (ये) जो (मन्तवः) मननशील (प्रचेतसः) उत्कृष्ट ज्ञानी जन (विश्वस्य स्थातुः च जगतः) सम्पूर्ण स्थावर और चेतन (भुवनस्य) जगत् के (ईशिरे) स्वामी हैं या शासक हैं, (ते देवासः) वे दिव्यगुण-शक्ति सम्पन्न विद्वान् जन (कृतात् अकृतात् एनसः)[२५५] किये हुए और न किये गये पाप से (नः) हमें (स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिए (अद्य) आज= शीघ्रातिशीघ्र (परि पिपृत) सब ओर से= पूर्ण रूप से बचायें।।१४।।

भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम्।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये।।१५।।

अर्थ—हम यज्ञकर्त्ता उपासक (भरेषु)[२५६] यज्ञों में और जीवन की संघर्षमय स्थितियों में (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्यशाली (सुहवं) उपासकों की पुकार को शीघ्र सुनने वाले, (अंहोमुचम्) पापों, कष्टों से बचाने वाले,

---

२५२. **सुगा—'गम्लृ-गतौ'** धातु से डः प्रत्यय। **सुष्ठु गन्तुं प्राप्तुं योग्याः।**

२५३. **कर्त—'डुकृञ्-करणे'** धातु से **'बहुलं छन्दसि'** विकरण-लुक्, तबादेश। **कुर्वन्तु कुरुत वा।**

२५४. **प्रचेतसः—'प्र+ चेतस्' 'चिती-संज्ञाने'** धातु से असुन्। **"चेतः प्रज्ञानाम"** [निघ० ३.९], **प्रचेतसः= प्रवृद्धचेतसः"** [निरु० ९.१९]।

२५५. **एनसः—'इण्-गतौ'** धातु से **"इणः आगसि"** [उणा० ४.१९८] सूत्र से असुन् प्रत्यय। **'ईयते प्राप्यते अनेन इति एनस्।' "एनः एतेः"** [निरु० ११.२१]।

२५६. **भरेषु—'डुभृञ्—धारणपोषणयोः"**धातु से अप्। **"भर इति संग्राम नाम, भरतेर्वा हरतेर्वा"** [निरु० ४.२४], **"भरे संग्रामनाम"** [निघ० २.१७]। धारणीय और पोषक अथवा धारक होने के कारण यज्ञ भी भर है।

(सुकृतम्) उत्तम कर्म वाले (अग्निम्) ज्ञानप्रकाशस्वरूप, (मित्रम्) हितकारी, (वरुणम्) वरणीय = उपासनीय, (भगम्) स्तुति करने योग्य (दैव्यं जनम्)[२५७] दिव्य पुरुष परमात्मा को (सातये स्वस्तये) उत्तम गुणों एवं सुखों की प्राप्ति के लिए तथा कल्याण के लिए (हवामहे) पुकारते हैं। उसकी कृपा से प्राप्त ज्ञान से (द्यावापृथिवी मरुतः) द्युलोक पृथिवीलोक और आकाशस्थ दिवयशक्तियां सुख एवं कल्याणकारी सिद्ध होवें।।१५।। अथवा, दिव्य पुरुष परमात्मा और उसकी दिव्य शक्तियां इन्द्र = विद्युत्[२५८], अग्नि, मित्र = वायु[२५९], वरुण = आकाश[२६०], भग = धनान्न या यज्ञ[२६१], द्युलोक, पृथिवीलोक, आदि हमारे लिए सुखदायक एवं कल्याणकारी होवें।।१५।।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये।।१६।।

अर्थ—हे मनुष्यो! हम (सुत्रामाणम्) भलीभांति रक्षा करने वाली, (पृथिवीम्)[२६२] विस्तृत प्रभाव वाली, (द्याम्) प्रकाशयुक्त, (अनेहसम्) दोष रहित, (सुशर्माणम्) उत्तम सुख देने वाली, (अदितिम्) अखण्डित स्वरूप वाली, (सुप्रणीतिम्) सुन्दर रचना वाली, (सु + अरित्राम्) सुन्दर चप्पुओं वाली अर्थात् गतियुक्त, (अनागसम्) पाप-बुराई से रहित, (अस्रवन्तीम्)

---

२५७. **दैव्यं जनम्**—"**देवेषु दिव्येषु रश्मिषु भवम् (चेतनं ब्रह्म)**" "**दैव्यस्य = देवैर्विद्वद्भिर्लब्धस्य जगदीश्वरस्य**" [ऋ०दया०भा०ऋ० २.५.२; २.३८.६]। **जनम् = पुरुषम् = परमेश्वरम्**, "**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः.....**" [ऋ० १०.९०.१]।

२५८. **इन्द्रम्**—"**स्तनयित्नुरेवेन्द्रः**" [शत० ११.६.३.९] "**इन्द्रः—इरां दृणातीति वा, इरां ददातीति वा, इरां दधातीति वा, इरां दारयत इति वा।**" [निरु० १०.८]।

२५९. **मित्रम्**—"**अयं वै वायुर्मित्रो योऽयं पवते**" [शत० ६.५.७.१४]।

२६०. **वरुणम्**—आकाश को वरुण कहते हैं क्योंकि वह स्थूल आर्द्रता से लोकों को आवृत करता है [बृह० २.३३]। 'वृञ्-वरणे' धातु से उनन् प्रत्यय।

२६१. **भगम्**—"**भग धननाम**" [निघ० २.१०]. "**यज्ञो भगः**" [शत० ६.३.१.१९]। **भज्-सेवायाम्**' धातु से घः।

२६२. **पृथिवीम्**—"**प्रथनात् पृथिवीत्याहुः**" [निरु० १.१४]।

न रिसने वाली = छिद्ररहित (दैवीं नावम्)[२६३] नौका के समान दैवी नौका = यज्ञ या मानव शरीर रूपी नौका पर (स्वस्तये) कल्याण-प्राप्ति के लिए (आ रुहेम) आरूढ़ हों अर्थात् उपर्युक्त गुणों वाले मानव जीवन से और यज्ञ से हमारा कल्याण अवश्य होता है।।१६।।

विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः।
सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये।।१७।।

अर्थ—(विश्वे यजत्राः)[२६४] हे समस्त श्रेष्ठ विद्वानो! (ऊतये) रक्षा के लिए [= रक्षा के उपायों को] (अधि वोचत) पूणरूप से हमें समझाओ। (नः) हमको (दुरेवायाः)[२६५] दुर्दशा से, और (अभिह्रुतः)[२६६] सभी प्रकार की कुटिलता से (त्रायध्वम्) बचाओ। (देवाः) हे विद्वानो! (अवसे स्वस्तये) अपनी सुरक्षा, बुराइयों से रक्षा एवं कल्याण के लिए (वः) आप को हम (सत्यया देवहूत्या)[२६७] सच्ची एवं विद्वानों द्वारा प्रशंसनीय वाणी से (हुवेम) पुकारते हैं, (शृण्वतः) आप उसे सुनने वाले होवो अर्थात् सुनकर हमारा कल्याण करो।।१७।।

अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः।
आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये।।१७।।

---

२६३. **नावम्—'नुद्-प्रेरणे'** धातु से **"ग्लानुदिभ्यां डौः"** [उणादि० २.६४] सूत्र से 'डौः' प्रत्यय होकर 'नौः' शब्द बनता है।

२६४. **यजत्राः—'यज्-देवपूजासंगतिकरणदानेषु'** धातु से **"अमिनक्षियजि....."** [उणा० ३.१०५] अत्रन् प्रत्यय। **'संगन्तव्याः विद्वांसः। "यजत्रमिति यज्ञियमित्येतत्"** [शत० ६.६.३.९]

२६५. **दुरेवायाः**—'एवृ-सेवने' धातु से 'दुर् + एव + अच् + टाप्'। दुःसेवनीय स्थिति।

२६६. **अभिह्रुतः—'ह्रृ-कौटिल्ये'** धातु से 'क्तः' प्रत्यय, ह्रृ धातु के स्थान पर ह्रु आदेश। अभि + ह्रु + क्तः। **अभितः आभिमुख्यं प्राप्तात् कुटिलात् अघात् पापाद्वा।**

२६७. **देवहूत्या—'ह्वेञ्-स्पर्धायाम्'** धातु से क्तिन् प्रत्यय। देव + हू + क्तिन् = देवहूतिः। **"देवाः विद्वांसः आह्वयन्ति यया सा (वाक्)" "देवैर्विद्वद्भिः प्रशंसिता (वाक्)"**[ऋ०दया०भा०ऋ० ६.३८.२; ६.६५.५] **"देवहूति देवहूतयः ये देवान् आह्वयन्ते"** [नि० ५.२५]।

अर्थ—हे परमेश्वर! आप (अमीवाम्)[२६८] रोग-उत्पादक रोगाणुओं को (अप) नष्ट कर दीजिये, (अनाहुतिम्)[२६९] यज्ञ न करने की भावना को (विश्वाम् अप) समूल नष्ट कर दीजिये, (अरातिम्)[२७०] विद्या, धन आदि का दान न देने की प्रवृत्ति को और (अघायतः दुर्विदत्राम्)[२७१] पापी व्यक्ति की दुष्ट प्रवृत्तियों को (अप) दूर कर दीजिये। (देवाः) हे दिव्य गुण-कर्म-स्वभावयुक्त विद्वानो! आप अपने उपदेशों से (अस्मत्) हमारे अन्तःकरण से (द्वेषः) द्वेषभाव को (आरे युयोतन) दूर हटा दीजिये, और (नः) हमें (स्वस्तये) कल्याण के लिए (उरु शर्म यच्छत) व्यापक सुख प्रदान कीजिये।।१८।।

अरि॑ष्टः॒ स मर्तो॒ विश्व॑ एधते॒ प्र प्र॒जाभि॑र्जायते॒ धर्म॑ण॒स्परि॑।
यमा॑दित्यासो॒ नय॑था सु॒नीति॑भि॒रति॒ विश्वा॑नि दु॒रि॒ता स्व॒स्तये॑।।१९।।

अर्थ—(आदित्यासः) हे तेजस्वी विद्वानो! आप लोग (यम्) जिस व्यक्ति को (स्वस्तये) कल्याण करने के लिए (विश्वानि दुरिता अति) समस्त दुर्गुणदुर्व्यसनों को दूर करके (सुनीतिभिः)[२७२] उत्तम मार्गों पर (नयथ) ले जाते हो, (सः) मर्तः) वह मनुष्य (धर्मणः परि) धर्मानुसार आचरण करता हुआ (अरिष्टः)[२७३] दुःखों-बाधाओं-अनिष्टों से रहित होकर सुखी होता है (प्र-प्रजाभिः जायते) प्रकृष्ट= उत्तम सन्तानों से उन्नति को प्राप्त होता है, और (विश्वः एधते) सब प्रकार से बढ़ता है।।१९।।

---

२६८. **अमीवाम्—'अम-रोगे'** धातु से ईवः प्रत्यय।

२६९. **अनाहुतिम्—न + आहुतिम् = अनाहुतिम्।**

२७०. **अरातिम्—'रा दाने'** धातु से क्तिन् प्रत्यय, नञ् समास। **न + अरातिम् = अरातिम्। "अरातयः अदानकर्मणः वा अदानप्रज्ञा वा"** [नि० ३.११]" **"अमित्रान् अदानान् वा"** [नि० ११.२]।

२७१. **दुर्विदत्राम्—दुर् + विद् + अत्रन् + टाप् = दुर्विदत्राम् दुष्टप्रवृत्तीन्।**

२७२. **सुनीतिभिः—'णीञ् प्रापणे'** धातु से क्तिन् प्रत्यय, सु + नीति = सुनीति। **"सुष्ठु धर्म्यैर्न्यायमार्गैः"** [ऋ०दया०भा०ऋ० २.२३.४]।

२७३. **अरिष्टः—'रिष्-हिंसायाम्'** धातु से क्तः प्रत्यय, नञ् समास। हिंसा, दुःख, बाधा आदि से रहित।

यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये ।।२०।।

अर्थ—(मरुतः देवासः)[२७४] हे यज्ञोपासना करने वाले विद्वानो! आप (यं वाजसातौ)[२७५] जिसको अन्नादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति के अवसर पर [=प्राप्ति के लिए], (यं शूरसातौ)[२७६] जिसको शूरवीर-पराक्रमी पुत्रों की प्राप्ति के अवसर पर [=प्राप्ति के लिए], और (हिते धने) हितकारी धनों की प्राप्ति के समय (अवथ) स्मरण करते हैं, पुकारते हैं, उस (प्रातर्यावाणम्)[२७७] ब्राह्ममुहूर्त्त में उपासनीय (इन्द्र-सानसिम्)[२७८] ऐश्वर्य-बल आदि देने वाले (अरिष्यन्तम्) हिंसा, त्रुटि आदि से रहित अर्थात् दयालु एवं पूर्णस्वरूप (रथम्)[२७९] सर्वत्रगतिशील, रमणीय परमात्म-रथ पर (स्वस्तये) अपने कल्याण के लिए (आ-रुहेम) हम भी भलीभांति आरोहण करें अर्थात् उसकी उपासना करके उसकी शरण में बैठकर अपना कल्याण करें।।२०।।

---

२७४. **मरुतः**—'**मृङ् प्राणत्यागे**' धातु से "**मृग्रोरुति**" [उणा १.९४] उति प्रत्यय। "**मरुतः ऋत्विङ् नाम**" [निघ० ३.१८]।

२७५. **वाजसातौ**—वाज + साति पदों का समस्तरूप। "**वाजः अन्ननाम, बलनाम**" [निघ० २.७; २.९]। सातिः—'षण-सम्भक्तौ' धातु से क्तिन् प्रत्यय। **सम्भक्तिः = प्राप्तिः, सम्मिल्य विभाजनम् सहयोगश्च, सम्मिल्य सेवनम्।**

२७६. **शूरसातौ—शूर + साति।** शूर = वीर पुत्रों की, साति = प्राप्ति के लिए।

२७७. **प्रातर्यावाणम्**—'**या-प्रापणे**' धातु से "**आतो मनिन्क्वनिप्०**" [अष्टा० ३.२.७४] सूत्र से वनिप् प्रत्यय, प्रातर् + यावाणम्। **प्रातरुपासना प्राप्ति गच्छति तम्।**

२७८. **इन्द्रसानसिम्**—इन्द्र = ऐश्वर्य बल आदि, '**षणु-दाने**' धातु से "**सानसिवर्ण०**" [उणा० ४.१०७] सूत्र से असि प्रत्यय। **सानसिम् = दातारम्।**

२७९. **रथम्**—'**रमु क्रीडायाम्**' धातु से "**हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्**" [उणा० २.२] सूत्र से क्थन् प्रत्यय। "**रथः—रंहतेर्गतिकर्मणः, रसतेर्वा**" [निरु० ९.११]। **रसो वै सः परमेश्वरः।** "**तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते**" [गो० १.२.२१]।

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्य१प्सु वृजने स्वर्वति।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन।।२१।।

अर्थ—हे परमेश्वर! आपकी कृपा से (पथ्यासु)[२८०] पथयुक्त प्रदेशों में, (धन्वसु) मरु-प्रदेशों में, (अप्सु) जलमय प्रदेशों में (नः स्वस्ति) हमारा कल्याण हो, और (वृजने स्वर्वति)[२८१] आकाश तथा द्युलोकस्थ भागों में (स्वस्ति) हमारा कल्याण हो, (पुत्रकृथेषु योनिषु) पुत्रों को जन्म देने वाले नारी-अंगों में (स्वस्ति) कल्याण = आरोग्य हो, (मरुतः) हे परमऐश्वर्यवन् परमात्मन्! (राये) ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (नः स्वस्ति दधातन) हमें कल्याण करने योग्य बनाओ।।२१।।

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा।।२२।।

अर्थ—हे परमात्मन्! (या) जो पृथिवी (इत् हि) निश्चय से (प्रपथे श्रेष्ठा) पथों के लिए उपयोगी है और (या) जो (रेक्णस्वती)[२८२] वसुन्धरा = धनधान्य से परिपूर्ण है तथा (वामम् अभि एति) धन-धान्य को विविध उपायों से सदा प्राप्त कराती है। (सा नः अमा)[२८३] वही हमारा घर = निवास स्थान है (सा उ) वही हमें (अरणे)[२८४] दुर्गम एवं कष्टयुक्त स्थानों में (निपातु) रक्षा करे, वह पृथिवी हमारे लिए (देवगोपा)[२८५] देव =

---

२८०. **पथ्यासु—पथहेतवे साध्वी पथ्या भूमिः।**

२८१. **वृजने—'वृजी-वर्जने'** धातु से "**कृपृवृजि०**" [उणा० २.८१] क्युः प्रत्यय। **व्रजन्ति यस्मिन् यत्र वा तद् वृजनम् = आकाशम्। "वृजनम् = आकाशम्** [सि०कौ० २.८१]।

२८२. **रेक्णस्वती—"रेक्णः धननाम"** [निघ० २.१०, निरु० ३.२] **रेक्णस्वती = धनवती भूमिः।**

२८३. **अमा—"अमा गृहनाम"** [निघ० ३.४], "**अमा = गृहे**" [निरु० ११.४२]

२८४. **अरणे—'ऋृ-गतौ'** धातु से ल्युट् प्रत्यय। न + रणः = अरणः। "**रणाय रमणीयाय**" [निरु० ९.२७]। **अरणः = अरमणीयः। "अरणानि = अरमणीयानि (क्षेत्राणि)** [ऋ०दया०भा०ऋ० ६.६१.१४]।

२८५. **देवगोपा—देव + गोप** का समस्तरूप। **'गुपू-रक्षणे'** धातु से "**कर्मण्यण्**" [३.२.१] अण् प्रत्यय। **देवेन परमेश्वरेण, देवैः दिव्यशक्तिभिः गोपितः देवगोपा। "देवा एनं गोपायन्तु"** [निरु० ११.४२]।

परमेश्वर द्वारा अथवा देव = दिव्य प्राकृतिक शक्तियों अग्नि, जल, वायु आदि के प्रकोपों से सुरक्षित (स्वावेशा भवतु) सुन्दर निवास स्थानों के योग्य होवे ।।२२।।

इषे त्वोर्जे त्वा वायवं स्थ देवो वंः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वं स्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ।।२३।।

[यजु० आ० १ । मं० १ ।।]

अर्थ—हे परमेश्वर! (त्वा इषे)[२८६] हम आपको अन्न आदि भोज्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए, और (त्वा ऊर्जे) हम आपको बल-पराक्रम की प्राप्ति के लिए स्मरण करते हैं, आपसे प्रार्थना-याचना करते हैं। (वः) आप (वायवः स्थ) सर्वत्र गतिशील एवं सर्वव्यापक हैं, (सविता देवः) सबके उत्पादक और प्रेरक परमात्मदेव हमें (श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु) अति-उत्तम कर्मों के लिए प्राप्त करायें = अत्युत्तम कर्मों से संयुक्त करें, (अघ्न्याः आप्यायध्वम्)[२८७] गौवें हृष्ट-पुष्ट होवें, (इन्द्राय भागम्) अपने स्वामी के लिए अथवा प्राणियों के लिए दूध आदि का उचित भाग प्रदान करने में समर्थ बनी रहें, दुधारू बनी रहें, (प्रजावतीः) स्वस्थ-उत्तम बछड़े-बछड़ियों को जन्म देने वाली होवें, (अनमीवाः अयक्ष्माः)[२८८] रोगाणुओं से रहित और यक्ष्मा आदि रोगों से रहित होती हुई नीरोग रहें, (वः) आपकी कृपा से हम पर (स्तेनः मा अघशंसः मा ईशत)[२८९] कोई

---

२८६. **इषे**—**'इषु-इच्छायाम्'** धातु से क्विप् प्रत्यय। "**इषवान्** = **अन्नवान् कामवान् वा**" [निरु० १०.४२]. "**इषम् इति अन्ननाम**" [निघं० २.७], "इषे + **इच्छापूर्त्तये, अन्नाय**" [ऋ०द०भा०ऋ० १.७१.८; १.१८०.२]।

२८७. **अघ्न्याः**—**'हन्'** वधार्थक धातु से यक् प्रत्यय, उपधालोप, ह को घ, नञ् समास। "**अघ्न्या गो नाम**" [निघ० २.११], "**अहन्या अहन्तव्या भवति, अघघ्नीति वा**" [निरु० ११.४३]। **हन्तुमयोग्याः गावः**।

२८८. **अनमीवाः**—**न** + **अमीवाः**। द्रष्टव्य स्व० मन्त्र पर टिप्पणी संख्या २४।

२८९. **अघशंसः**—**योऽघं पापं शंसति सः स्तेनः, दस्युः, दुष्टाचारी जनः**।

चोर-डाकू और पापाचारी-दुराचारी व्यक्ति स्वामित्व न कर सके = हम ऐसे व्यक्तियों के अधीन न रहें, (ध्रुवा) निश्चय से (अस्मिन् गोपतौ बह्वीः स्यात) इस गौवों के रक्षक और स्वामी के पास बहुत गौवें हो जावें, आप (यजमानस्य पशून् पाहि)[२९०] यज्ञ करने वाले व्यक्ति के पशुओं की रक्षा कीजिये। आपकी कृपा से ही उक्त लाभों की प्राप्ति हो सकती है, अतः हम आपसे ही प्रार्थना करते हैं।।२३।।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ।।२४।।

अर्थ—हे परमेश्वर! (नः) हमें (अदब्धासः)[२९१] दम्भ हिंसा आदि से रहित, (अपरीतासः)[२९२] एकाग्रता से युक्त, (उद्भिदः) उत्तम संस्कारों व कर्मों को उत्पन्न करने वाले, (भद्राः) कल्याणकारी (क्रतवः)[२९३] यज्ञ, कर्म और बुद्धियां (विश्वतः या यन्तु) सब ओर से भलीभांति प्राप्त होंवें अर्थात् इन विशेषताओं वाले यज्ञों, कर्मों को करें और बुद्धियों में विचारें। (यथा) जिससे कि (देवाः) दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले विद्वान् अथवा दिव्यशक्तियां (दिवे-दिवे) प्रतिदिन (सदम्+इत्)[२९४] प्रतिसमय (अप्रायुवः)[२९५] अप्रमादी अर्थात् सावधान रहकर (नः) हमारी (वृधे)

"**अघस्य शंसितारम्**" [निरु० ६.११], "**अघशंस इति स्तेन नाम**" [निघ० ३.२४]। अघ उपपदपूर्वक '**शंसु-स्तुतौ**' धातु से अच् प्रत्यय।

२९०. **यजमानः**—'**यज**' धातु से शानन् प्रत्यय। "**यद् यजते तद् यजमानः**" [शत० ३.२.१.१७]

२९१. **अदब्धासः**—'**दम्भु-दम्भने**' धातु से क्तः प्रत्यय, अथवा "**दभ्नोति वधकर्मा**" [निघ० २.१९] असुक् आगम, नञ् समास।

२९२. **अपरीतासः**—'**परि + इण्-गतौ**' धातु से क्तः प्रत्यय, नञ् समास। चारों ओर के झुकाव से रहित अंर्थात् एकाग्रतायुक्त।।

२९३. **क्रतवः**—'**डुकृञ्-करणे**' धातु से "**कृञः कतु:**" [उणा० १.७६] सूत्र से कतुः प्रत्यय। "**क्रतुः कर्म वा प्रज्ञा वा**" [निरु० २.२८; निघ० २.१; ३.९], **क्रतवः = यज्ञाः**" [ऋ०दया०भा०ऋ० १.८९.१]।

२९४. **सदम्**—"**सदम् = सदा**" [निरु० ४.१९]।

२९५. **अप्रायुवः**—'**इण् गतौ**' धातु से "**छन्दसीणः**" [उणा० १.२] सूत्र से उण् प्रत्यय, नञ् समास। "**अप्रायुवः = अप्रमाद्यन्तः**" [निरु० ४.१९]

उन्नति-समृद्धि में सहयोगी और (रक्षितारः) रक्षा करने वाले (असन्) होवें। वे ऐसा सहयोग एवं मार्गदर्शन करें कि जिससे हमारी उन्नति, समृद्धि व रक्षा हो सके।।२४।।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानांᳬ रातिरभि नो निवर्त्तताम्।
देवानांᳬ सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे।।२५।।

अर्थ–हे परमेश्वर आपकी कृपा से (ऋजूयतां देवानाम्)[२९६] सरलता, निष्कपटता से व्यवहार करने वाले दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले विद्वानों की (भद्रा सुमतिः) कल्याणकारिणी उत्तम मति, (देवानां रातिः)[२९७] दिव्य दाताओं की दानशीलता (नः अभि निवर्तताम्) हमारी ओर लौट आये अर्थात् उन जैसे ये गुण हमारे अन्दर भी आ जायें। इन गुणों की प्राप्ति के लिए (वयम्) हम लोग (देवानाम्) उन देवों = उत्तम विद्वानों, दाताओं की (सख्यम् उपसेदिम) मित्रता को प्राप्त करें। (देवाः) वे विद्वान् उत्तम उपाय और ज्ञान तथा कर्मों के द्वारा (जीवसे) दीर्घजीवन के लिए (नः आयुः प्रतिरन्तु)[२९८] हमारी आयु को पूर्ण करायें-बढ़ायें।।२५।।

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये।।२६।।

अर्थ–(वयम्) हम लोग (तम्) उस (ईशानम्)[२९९] समस्त जगत् के स्वामी, (जगतः+तस्थुषः पतिम्)[३००] जंगम और स्थावर जगत् के

२९६. **ऋजूयताम्**–ऋजु उपपद में क्यच् और शतृ प्रत्ययान्त रूप। "**ऋजूयताम् ऋजुगामिनाम्, ऋतुगामिनाम्**" [निरु० १२.३९]

२९७. **रातिः**–'**रा-दाने**' धातु से क्तिन् प्रत्यय। "**रातिः दत्तिः**" [निरु १२.१०]। **दानक्रिया**" [ऋ०दया०भा०ऋ० ३.३०.७]।

२९८. **प्रतिरन्तु**–"**प्र+ तृ–प्लवनसन्तरणयोः**' धातु का लोट्रूप। **प्रतिरन्तु प्रवर्धयन्तु**" [निरु० १२.३७]

२९९. **ईशानम्**–'**ईश-ऐश्वर्ये**' धातु से चानश् प्रत्यय। "**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्**" [यजु० ४०.१]।

३००. **जगतः-तस्थुषः**–'**गम्लृ-गतौ**' धातु से "**द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च**" [अ० ३.२.१७८] वार्तिक सूत्र से क्विप् प्रत्यय, धातु को द्वित्व। "**जगत्**

उत्पन्नकर्त्ता एवं पालनकर्त्ता, (धियंजिन्वम्) धारणावती बुद्धि को विकसित करने वाले परमात्मा की (हूमहे) स्तुति-प्रार्थना-उपासना करते हैं, (यथा) जिससे कि वह परमात्मा (नः) हमारे (वेदसां पूषा)[३०१] विद्या आदि सब प्रकार के धनों का पुष्टिकर्त्ता = बढ़ाने वाला, (रक्षिता) हमारा रक्षक, (पायुः)[३०२] पालक, (अदब्धः) हानि-हिंसा आदि से रहित, (वृधे) हमारी उन्नति-समृद्धि के लिए और (स्वस्तये) कल्याण के लिए (असत्) सहायक होवे, हमारी समृद्धि और कल्याण करे।।२६।।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।२७।।

अर्थ–(वृद्धश्रवाः इन्द्रः)[३०३] हम यह कामना करते हैं कि,संसार में सर्वाधिक ज्ञानी, परमैश्वर्यशाली परमात्मा (नः) हमारा (स्वस्ति) कल्याण करे (पूषा विश्ववेदाः)[३०४] जगत् का पालक-पोषक और प्रत्येक बात को जानने वाला = सर्वज्ञ परमात्मा (नः स्वस्ति) हमारा कल्याण करे, (तार्क्ष्यः[३०५] अरिष्टनेमिः)[३०६] सर्वत्र गतिशील = व्यापक और सबके

जङ्गमम्" [नि० ९.१३] । **तस्थुषः**–'**ष्ठा गतिनिवृत्तौ**' धातु से क्वसु प्रत्यय। "**तस्थुषः** = स्थावरस्य" [नि० १२.१६] ।

३०१. **वेदसां पूषा**–'**विद्-ज्ञाने**' '**विद्लृ-लाभे**' धातुओं से असुन् प्रत्यय। "**वेद धननाम**" [निघ० २.१०] । "**अयं वै पूषा....... इदं सर्वं पुष्यति**" [शत० १४.२.१.९] । '**पुष्-पुष्टौ**' धातु से कनिन् प्रत्यय।

३०२. **पायुः**–'**पा-रक्षणे**' धातु से "**कृवापाजि०**" [उणा० १.१] सूत्र से उण् प्रत्यय। "**पायुः** = पालनकर्त्ता परमेश्वरः" [ऋ०दया०भा०ऋ० १.८९.५; २५.१८]

३०३. **वृद्धश्रवाः**–**वृद्ध** + 'श्रु-श्रवणे' धातु से "**गतिकारकोपपदयो....**" [उणा० ४.२२७] सूत्र से असुन् प्रत्यय। '**वृद्धं श्रवः श्रवणम्, अन्नम्, धनं वा यस्य सः वृद्धश्रवाः।**' "**श्रवः अन्ननाम, धन नाम**" [निघ० २.७; २.१०] ।

३०४. **विश्ववेदाः**–**विश्व** + 'विद्-ज्ञाने' 'विद्लृ-लाभे' 'विद्-सत्तायाम्' 'विद्-विचारणे' 'विद्-चेतनाख्याननिवासेषु' धातुओं से '**विदिभुजिभ्यां विश्वे**" [उणा० ४.२३९] सूत्र से असुन् प्रत्यय। "**यः विश्वं वेत्ति स विश्ववेदाः।**'

३०५. **तार्क्ष्यः**–'**तृक्ष्-गतौ**' धातु से ण्यत्, अण्।

३०६. **अरिष्टनेमिः**–**अरिष्ट** + **नेमिः**, 'रिष्-हिंसार्थे' धातु से क्त प्रत्यय, नञ्

द्वारा जानने योग्य, दुःखनिवारक और सुखप्रापक परमात्मा (नः स्वस्ति) हमारा कल्याण करे, (बृहस्पतिः)[३०७] अखिल ब्रह्माण्ड का स्वामी अथवा अखिल ज्ञान का स्वामी वह परमात्मा (नः स्वस्ति दधातु) हमारे लिए कल्याण धारण करे, हमारे प्रति कल्याण-भावना रखकर हमारा कल्याण करे।।२७।।

भ॒द्रं कर्णे॑भिः शृणुयाम देवा भ॒द्रं प॑श्येमा॒क्षभि॒र्यजत्राः।
स्थि॒रैरङ्गै॑स्तुष्टु॒वाꣳस॑स्त॒नूभि॒र्व्य॑शेमहि दे॒वहि॑तं॒ यदायुः।।२८।।]

[यजु अ० २५ । मं० १४, १५, १८, १९, २१ ।।]

अर्थ—(देवाः) हे दिव्य गुणों के स्वामी (यजत्राः)[३०८] यजनीय= सत्करणीय परमात्मन्! हम आपकी कृपा से (कर्णेभिः भद्रं शृणुयाम) कानों से कल्याणकारी बातें ही सुनें, (अक्षभिः भद्रं पश्येम) आंखों से कल्याणकारी दृश्य ही देखें। (तुष्टुवांसः)[३०९] आपकी स्तुति-उपासना करते हुए हम (स्थिरैः+अंगैः) स्वस्थ-दृढ़ अंगों से अर्थात् जिनमें आजीवन अस्वस्थता या सामर्थ्यहीनता न आये ऐसे अंगों से (तनूभिः) शरीर के समस्त स्वस्थ-दृढ़ भागों से (यद् देवहितं[३१०] आयुः) जो इन्द्रियों

समास '**अरिष्टः**'। '**णीञ्-प्रापणे**' धातु से "**नियोमिः**" [उणा० ४.४३] सूत्र से मिः प्रत्यय '**नेमिः**'। "**यो अरिष्टानि दुःखानि दूरे नयति**" "**अरिष्टानां दुःखानां नेमिः वज्रच्छेत्ता**", **योऽरिष्टानि सुखानि प्रापयति सः अरिष्टनेमिः**" [ऋ०दया०भा०यजु० १५.१८; ऋ० १.८९.६; यजु० २५.१९]।

३०७. **बृहस्पतिः—बृहस्+ पतिः**, "**बृहतः पाता वा पालयिता वा**" [नि० १०.१२], "**ब्रह्म वै बृहस्पतिः**" [ऐ० १.१३]।

३०८. **यजत्राः**—व्याकरणसम्बन्धी टिप्पणी द्र०स्व० मन्त्र १७ पर। "**देवाः, यजत्राः**" में बहुवचन आदराधिक्य प्रदर्शनार्थ है।

३०९. **तुष्टुवांसः—'ष्टुञ्-स्तुतौ'** धातु से कानच् प्रत्यय।

३१०. **देवहितम्—देव+ हितम्, देवभ्यो हितम् देवहितम्।** "**प्राणाः देवाः**" [शत० ६.३.१.१५], "**मनो देवः**" "**चक्षुर्देवः**" [गो०पू० २.१०; २.११], "**मनो वै देववाहनम्**" [शत० १.४.३.६], "**वागदेवः**" [गो०पू० २.१०] इत्यादि प्रमाणों से इन्द्रियों को भी देव कहते हैं। "इन्द्रियों के लिए हितकारक" [आर्याभि० २.२७; २.३७; २५.२१; ३६.२४]।

के लिए हितकर अर्थात् स्वास्थ्य सामर्थ्ययुक्त इन्द्रियों सहित जो पूर्ण आयु है, उसको (वि + अशेमहि) भलीभांति प्राप्त करें।।२८।।

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ।।२९।।

अर्थ–(अग्ने) हे प्रकाश एवं ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! (गृणानः)[३११] हमारे द्वारा स्तुति किये जाते हुए आप अर्थात् हमारे द्वारा स्तुति और आह्वान करने पर आप (वीतये)[३१२] उत्तम ज्ञान-विज्ञान, गुण, तेज, आनन्द, कामना आदि को प्राप्त कराने के लिए और (हव्यदातये)[३१३] उत्तम भोग्यपदार्थों को प्रदान करने के लिए (आ + याहि) हमें सब ओर से प्राप्त होइये = सदा-सर्वदा हमें प्राप्त रहिये तथा (होता) उत्तम पदार्थों को देने वाले आप, हमारे (बर्हिषि)[३१४] हृदयस्थान रूपी आकाश में अथवा यज्ञ में (निः-सत्सि) अवश्य विराजमान होइये अर्थात् हम आपकी स्तुति-उपासना करें और आप सदा हमारे हृदय में विद्यमान रहें = हम आपको स्मरण रखें, यही प्रार्थना है।।२९।।

त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः।
देवेभिर्मानुषे जने।।३०।।

[सा० छन्दआ० प्रपा० १ । मन्त्र १, २ ।।]

---

३११. **गृणानः**–'**गृ-शब्दे**' धातु से शानच् प्रत्यय। "**गृणाति-अर्चतिकर्मा**" [निघ० ३.१४]।

३१२. **वीतये**–"**वी-गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु**' धातु से क्तिन् प्रत्यय। गति के तीन अर्थ हैं–ज्ञान, गमन और प्राप्ति। "**ज्ञानाय भोगाय वा**" "**विज्ञानाय**" "**कामनायै**" "**धर्मप्रवेशाय**" "**आनन्द प्राप्तये**" "**विज्ञानादिप्राप्तये**" "**विद्यादि-शुभगुणव्याप्तये**" [ऋ०दया०भा०ऋ० १.५.५; १.७४.४; १.१३५.३, ४; ५.५१.५; ६.१६.१०]।

३१३. **हव्यदातये**–**हव्य** + **दातिः**, 'हु-दानादानयोः' धातु से यत्। **दातिः**–'**डुदाञ्-दाने**' धातु से क्तिन्। **हव्यम्** + स्वीकर्त्तव्यमन्नादिपदार्थम्" "हव्यैः + अत्तुमर्हैः (पदार्थैः) [ऋ०दया०भा०यजु० १५.३१; २०.२४]।

३१४. **बर्हिषि**–'**बृहि-वृद्धौ**' धातु से "**बृंहेर्नलोपश्च**" [उणा० २.१०९] सूत्र से इसिः प्रत्यय, नलोप। "**बर्हिः-अन्तरिक्षनाम**" [निघ० १.३]। "**हृदयान्तरिक्षे**" [ऋ०भा०भू० १२४; यजु० ३१.३]।

अर्थ–(अग्ने) हे प्रकाश एवं ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! आप (यज्ञानाम्)[३१५] सभी यज्ञों अथवा श्रेष्ठकर्मों के (होता)[३१६] प्रेरक हैं, (विश्वेषां हितः) समस्त प्राणियों के हितैषी अथवा समस्त जगत् में व्याप्त हैं, (देवेभिः) अपने दिव्यगुणों के द्वारा आप (मानुषे जने)[३१७] मननशील उपासक जन के हृदय में विराजमान होइये, प्राप्त होइये अर्थात् हम उपासक हृदय में आपको प्राप्त करें।।१८।।

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।।३१।।

[अथर्व० कां० १। सू० १। वर्ग १। अनु० १। मन्त्र १।। +

अर्थ–(ये त्रिषप्ताः)[३१८] जो इक्कीस तत्व [३×७=२१]

---

३१५. यज्ञानाम्–"**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**" [शत० १.७.१.५], "**यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म**" [तै० ३.२.१.४]।

३१६. होता–'**हु-दानादानयोः**' तृजन्तरूप। "**दाता ग्रहीता द्योतको वा**" [ऋ०दया०भा०ऋ० १.१.५], "**वाचस्पतिर्होता**" [मै० १.९.१]।

३१७. मानुषे जने–मनु+ अञ्, षुगागम। "**मनोर्जातावञ्यतौषुक् च**" [अ० ४.१.१६१] सूत्र से अञ् और षुगागम। **मनुः**–'**मन-ज्ञाने**' धातु से '**शृस्वृस्निहि०**' [उणा० १.१०] सूत्र से उः प्रत्यय। "**मनुः मननात्**" [नि० १२.३४]। **मननशीलः मनुष्यः मनुः तस्य पुत्रः अपत्यः मानुषः।** "**ये विद्वांसस्ते मनवः**" [शत० ८.६.३.१८]। **अथवा, मनुः प्रजापतिः परमेश्वरः, तस्यापत्यं मानुषः।** "**प्रजापतिर्वै मनुः स हीदं सर्वममनुत**" [शत० ६.६.१.१९], "**एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्**" [मनु० १२.१२३]।

३१८. त्रिषप्ताः–त्रि+ सप्त, ३×७+ २१, इक्कीस तत्त्व। ५ तन्मात्राएं, + ५ महाभूत, + ५ ज्ञानेन्द्रियां, + ५ कर्मेन्द्रियां, १ अन्तःकरण= २१। अन्यत्र इन्हें "**त्रिसप्तसमिधः**" भी प्रकारान्तर से कहा है [यजु० ३१.१५]। "**अस्य ब्रह्माण्डस्यैकविंशतिसमिधः कारणानि बुद्धि-अन्तःकरणं जीवश्चैका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात्, दशेन्द्रियाणि, पञ्चतन्मात्राः, पञ्चभूतानि च** [ऋ०भा०भू० १२८; यजु०भा० ३१.१५]। "**त्रिसप्तैः= एकविंशति सत्वभिः= पदार्थैः** [ऋ०दया०भा०ऋ० १.१३३.६]।

परियन्ति सब ओर से प्राप्त होकर एकत्र होते हैं और (विश्वारूपाणि बिभ्रतः) समस्त प्रकार के प्राणि-रूपों को धारण करते हैं, (तेषां मे तन्वः) अद्य) उन्हीं से निर्मित इस मेरे शरीर में आज (वाचस्पतिः)[३१९] वेदवाणी का उपदेष्टा अथवा समस्त जगत् का निर्माता परमात्मा (बला)[३२०] बलों = सामर्थ्य को (दधातु) धारण कराये।।१८।।

इति स्वस्तिवाचनम्।।

अथ शान्तिकरणम्[३२१]

विशेष कथन—किसी अनिष्ट या उत्पात के उपस्थित होने पर उसकी शान्ति के लिए अथवा भविष्य में उसके न होने के लिए शान्तिकरण कर्म करने की परम्परा रही है।

---

३१९. **वाचस्पतिः—वाचस् + पतिः। "वाचः पाता वा पालयिता वा"** [नि० १०.१७], **"यो वै वाचोऽध्यक्षः स वाचस्पतिः"** [मै० २२.५]। **वाक्—"इतीमे लोका इमे वेदा अथो वागु-इति ब्रूयात्"** [ऐ० ६.१५], **"वाग्वै विराट्"** [शत० ३.५.१.३४]।

३२०. **बला—'बल-प्राणने'** धातु से अच् प्रत्यय। **"बलं कस्मात्? बलं भरं भवति बिभर्तेः"** [नि० ३.९]।

३२१. **शान्तिकरणम्**—१. बहुत सी पुस्तकों में भ्रान्ति से "शान्तिकरणम्' के स्थान पर शान्तिप्रकरणम् पाठ छपा मिलता है, जो अशुद्ध है। ये मन्त्र शान्तिकरण = शान्ति प्राप्ति के लिए हैं, अतः इनका नाम शान्तिकरण ही है। यही कर्मकाण्डीय ग्रन्थों में मिलता है।

२. शान्तिकरण मन्त्रों से होम करने की परम्परा भी प्राचीन काल से चली आ रही है। विशेष अवसरों पर, अथवा अशान्ति एवं उपद्रवों से रक्षा की कामना से इनके पाठपूर्वक यज्ञ किया जाता था। महर्षि मनु कहते हैं—

सावित्राञ् शान्तिहोमांश्च कुर्यात् पर्वसु नित्यशः" [४.१५०]

—'गायत्री मन्त्र आदि से अनुष्ठेय यज्ञों और शान्ति कर्म वाले (शान्तिकरण मन्त्रों वाले) होमों को प्रत्येक पर्व पर या विशेष अवसर पर किया करें।'

वाल्मीकि रामायण में उल्लेख आता है कि जब राम-लक्ष्मण ने पञ्चवटी-प्रदेश में निवास के लिए पर्णशाला का निर्माण किया तो उसमें निवास से पूर्व उन्होंने शान्तिकर्म का अनुष्ठान किया था—

'शमु-उपशमे' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगने पर 'शान्ति' पद सिद्ध होता है, जिसके अर्थ हैं—सुख, मानसिक सुख, निरुपद्रवता, सन्ताप की निवृत्ति आदि। शान्तिकरण प्रकरण के मन्त्रों में परमात्मा से प्रार्थना-कामना की गयी है कि ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थ अथवा दिव्य शक्तियां हमारे और अन्य सभी के लिए सुख-शान्तिकारी होवें।

विधि—निम्न मन्त्रों से अर्थचिन्तन सहित परम पिता परमात्मा से सबकी शान्ति के लिए प्रार्थना-कामना करें। अर्थसहित मन्त्र निम्न हैं—

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ।।१।।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से आप द्वारा प्रदत्त पदार्थ (इन्द्राग्नी)[३२२] विद्युत् और अग्नि अथवा प्राण-अपान या प्राण-उदान (अवोभिः) अपने रक्षात्मक उपायों-साधनों से (नः) हमारे लिए (शं भवताम्) सुख-शान्ति कारक होवें, (रातहव्या)[३२३] आवश्यक पदार्थों को देने वाले (इन्द्रावरुणा)[३२४] वायु और जल (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (इन्द्रासोमा)[३२५] सूर्य और चन्द्र (सुविताय)[३२६]

ततः पुष्पबलिं कृत्वा शान्तिं च स यथाविधि।
दर्शयामास रामाय तदाश्रमपदं कृतम्।। [३.१५.२५]

—उसके पश्चात् लक्ष्मण ने पुष्प आदि प्रदान करके, पुष्प आदि से अलंकृत करके और शान्तिकर्म करके राम को वह निर्मित आश्रम दिखाया।'

३२२. **इन्द्राग्नी**—"**स्तनयित्नुरेवेन्द्रः**" [शत० ११.६.३.९], "**यदशनिरिन्द्रः**" [कौ० ६.९]। इन्द्र + अग्निः, द्विवचन।

३२३. **रातहव्या**—'**रा-दाने**— धातु से क्तः प्रत्यय। '**हु-दानादानयोः**' धातु से यत् प्रत्यय। **रात** + हव्य, द्विवचन का प्रयोग। "**दातव्यदानौ**" [ऋ०दया०भा०ऋ० ६.६९.६]।

३२४. **इन्द्रावरुणा**—**इन्द्र** + **वरुण**। "यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः" [शत० ४.१.३.१९], "**अयं वाऽ इन्द्रो योऽयं (वातः) पवते**" [शत० १४.२.२.६]। "**अप्सु वरुणः**" [वै० १.६.५.६]।

३२५. **इन्द्रासोमा**—**इन्द्र** + **सोम**। "**इन्द्र इति ह्यचतेमाचक्षते स एष (सूर्यः) तपति**" [शत० ४.६.७.११], "**सूर्य उ एवेन्द्रः**" [शत० ८.५.३.२]।

ऐश्वर्य प्रदान करने के लिए (शंयोः)[३२७] रोगों और भयों के निवारण के लिए (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (इन्द्रापूषणा)[३२८] आकाश या आकाशस्थ मेघ और पृथिवी (वाजसातौ)[३२९] अन्न-धन की प्राप्ति में (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें।।१।।

शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु।।२।।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (भगः)[३३०] यज्ञ और ऐश्वर्य (नः शम् अस्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (शंसः) स्तुति-प्रशंसा वचन (नः) हमारे लिए (उ) निश्चय से (शम्) सुख-शान्तिकारक होवें, (पुरन्धिः[३३१] नः शम्) अत्यन्त मेधावी विद्वज्जन अथवा बहुगुणवती स्त्रियां हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (रायः) धन-अन्न आदि (उ) निश्चय से (शं सन्तु) सुख-शान्तिकारक होवें, (सत्यस्य सुयमस्य)[३३२] सत्यस्वरूप नियन्ता = शासक के (शंसः) वचन या आज्ञाएं (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (पुरुजातः[३३३] अर्यमा)[३३४] सर्वोपरि

"सोमो राजा चन्द्रमाः" [शत० १०.४.२.१], **"चन्द्रमा वै सोमः"** [कौ० १६.५]।

३२६. **सुविताय—'षु-प्रसवैश्वर्ययोः'** धातु से क्तः प्रत्यय। **"सुविताय = ऐश्वर्याय"** [ऋ०दया०भा०यजु० ३३.८४]।

३२७. **शंयोः—"शमनं च रोगाणाम्, यावनं च भयानाम्"** [नि० ४.२१]

३२८. **इन्द्रापूषणा—इन्द्र + पूषा। "स यस्स आकाश इन्द्र एव सः"** [जै०उ० १.२८.२]। **"पूषा पृथिवी नाम"** [निघ० १.१], **"(पृथिवी) वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किं च"** [शत० १४.४.२.२५]।

३२९ **वाजसातौ—द्र० टि० २७५**

३३०. **भगः—"भगः धननाम"** [निघ० २.१०], **"यज्ञो भगः"** [शत० ६.३.१.१९], **"भगो भजतेः"** [नि० १.६]।

३३१. **पुरन्धिः—"पुरन्धिः = बहुधीः"** [नि० ६.१३], **"पुरन्धिर्योषेति, योषित्येव रूपं दधाति तस्माद्रूपिणी युवतिः, प्रिया भावुका"** [शत० १३.१.९.६]।

३३२. **सुयमस्य—सु + यम। 'यमु-उपरमे'** धातु से अच्। **'यमो यच्छतीति सतः"** [निघ० १०.१९]। **सुष्ठु नियामकस्य राज्ञः।**

३३३. **पुरुजातः—'पुरु + जातः। "पुरुष बहुषु नरेषु प्रसिद्धः पुरुजातः, सर्वेषां नेता, अग्रणीर्वा। "पुरु बहुनाम"** [निघ० ३.१]।

विराजमान न्यायाधीश शासक (नः) हमारे लिए (शम् अस्तु) सुख-शान्तिकारक होवें।।२।।

शं नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु।।३।।

अर्थ—हे प्रभो (धाता) समस्त जगत् को उत्पन्न और पोषण करने वाले आप अथवा सब प्रजाओं का पोषण करने वाला शासक (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (धर्त्ता) जगत् को धारण करने वाले आप अथवा प्रजाओं को धारण करने वाला राजा (नः) हमारे लिए (उ) निश्चय से (शम् अस्तु) सुख-शान्तिकारक होवें, (उरूची)[३३५] यह पृथिवी (स्वधाभिः)[३३६] अपने में धारित-उत्पादित अन्न-जल आदि पदार्थों के साथ (नः शं भवतु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (रोदसी[३३७] बृहती)[३३८] द्युलोक-पृथिवी लोक और बृहत् अन्तरिक्षलोक (शम्) सुख-शान्तिकारक होवें, (अद्रिः)[३३९] मेघ (नः शम्) हमारे लिए

---

३३४. **अर्यमा—"अर्यमा = न्यायाधीश इव नियन्ता"** [ऋ०दया०भा०यजु० २५.२४]।

३३५. **उरूची—'उरु + अञ्चु—गतिपूजनयोः'** धातु से **"ऋत्विग्"** [अ० ३.२.५९] सूत्र से क्विन् प्रत्यय, अकारलोप, पूर्व को दीर्घ। **"उरु-इति बहुनाम"** [निघ० ३.१]। **"या उरूणि बहूनि अञ्चति सा पृथिवी" "या उरूणि बहूनि अञ्चति प्राप्नोति"** [ऋ०दया०भा०ऋ० ३.३१.११; यजु० २१.५]।

३३६. **स्वधाभिः—'स्व + डुधाञ्-धारण पोषणयोः** धातु से क्विप्। अथवा **'ष्वद-आस्वादने'** धातु से औणादिक आः प्रत्यय, धातु के द को घ। **"स्वधा-उदकनाम, अन्ननाम"** [निघ० १.१२; २.७]। **"स्वधाभिः स्वयं धारितैः पदार्थैः"** [ऋ०दया०भा० १.११३.१३]।

३३७. **रोदसी—"रोदसी द्यावापृथिव्योर्नाम"** [निघ० ३.३०], [नि० ५.२१; ६.२] **"इमे वै द्यावापृथिवी रोदसी"** [शत० ६.४.४.२; ऐत० २.४१; जै०उ० १.३२.४]। **'रुधिर्-आवरणे'** धातु से औणादिक असुन् प्रत्यय, ध को द।

३३८. **बृहती—"अयं मध्यमः (लोकः अन्तरिक्षम्) बृहती"** [तां० २४.६.३]। **"बृहती परिबर्हणात्"** [नि० ९.७]। बृहत् + **ङीप् प्रत्यय।**

३३९. **अद्रिः—"अद्रिः = मेघनाम"** [निघ० १.१०; १.१४]। **"अद्रिरादृणोत्येतेन,**

सुख-शान्तिकारक होवें, (देवानाम्-सुहवानि) विद्वानों के सुन्दर आह्वान (नः शम् अस्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें।।३।।

शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम्।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु वातः।।४।।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (ज्योतिरनीकः[३४०] अग्निः) प्रकाश-बल से युक्त अर्थात् ज्वालायुक्त प्रज्वलित पार्थिव अग्नि (नः शम् अस्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (मित्रावरुणौ[३४१] शम्) प्राण-अपान अथवा दिन-रात (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (अश्विनौ[३४२] शम्) द्युलोक-पृथ्वीलोक हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (सुकृतां सुकृतानि) उत्तम पुरुषों के उत्तम आचरण (नः शं सन्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (इषिरः[३४३] वातः) इच्छित हितसाधक वायु (नः) हमारे लिए (शम् अभिवातु) सुख-शान्तिकारक रूप में चारों ओर बहे।।४।।

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः।।५।।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (पूर्व हूतौ)[३४४] प्रथम आह्वान में ही

अपि वाऽत्तेः स्यात्" [नि० ४.४]। '**अद-भक्षणे**' धातु से औणादिक क्रिन् प्रत्यय।

३४०. **ज्योतिरनीकः—ज्योति + अनीकः। "ज्योतिरेव अनीकं सैन्यं बलं वा यस्य सोऽग्निः ज्योतिरनीकः।"**

३४१. **मित्रावरुणौ—मित्र + वरुण। "प्राणापानौ मित्रावरुणौ"** [तां० ६.१०.५], "**प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः**" [शत० ८.४.२.६], "**अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ**" [तां० २५.१०.१०]।

३४२. **अश्विनौ—"इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ, इमे हीदं सर्वमश्नुवाताम्**" [शत० ४.१.५.१६]।

३४३. **इषिरः वातः—इषु-इच्छायाम्** धातु से "**इषिमदिमुदि०**" [उणा० १.५१] सूत्र से किरच् प्रत्यय। "**इषिरेण = ईषणेन वैषणेन कर्षणेन वा**" [नि० ४.७]।

३४४. **पूर्वहूतौ—पूर्व + हूति। 'ह्वेन् स्पर्द्धायां शब्दे च'** धातु से क्तिन् प्रत्यय।

(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (अन्तरिक्षम्) आकाशलोक (दृशये) दृश्यसामर्थ्य के लिए (नः शम् अस्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (ओषधिः)[३४५] वृक्ष-वनस्पतियां (वनिनः)[३४६] जल-स्थल या सूर्य आदि पदार्थ (नः शं भवन्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें। (रजसस्पतिः जिष्णुः)[३४७] लोक-लोकान्तरों का स्वामी सर्वाधिष्ठाता परमात्मा (नः शम् अस्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे।।५।।

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु।।६।।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (देवः इन्द्रः) दिव्य गुणयुक्त सूर्य या विद्युत् (वसुभिः)[३४८] जीवनदायक किरणों अथवा वायुओं के साथ (नः शम्

"**पूर्वहूतौ** = **पूर्वस्यामभिहूतौ**" [नि० ५.२७]। पूर्वा च या हूतिः = **आह्वानम्, तस्याम्।**

३४५. **ओषधिः**—'**ओषद् + धेट-पाने**' धातु से किः प्रत्यय। **ओषद्** = '**उष-दाहे**' धातु से शतृ प्रत्यय। "**ओषधय ओषद् धयन्तीति वा, ओषत्येना धयन्तीति वा, दोषं धयन्तीति वा**" [नि० ९.२७]। "**ओषध्यः फल पाकान्ताः**" [मनु० १.४६]।

३४६. **वनिनः**—'**वन-शब्दे**' धातु से कः प्रत्यय। वन प्रातिपदिक से इनिः प्रत्ययः। "**वनम्-इति उदकनाम**" [निघ० १.१२], "**वनमिति रश्मिनाम**" [निघ० १.५]। वनानि किरणानि विद्यन्ते यस्मिन्, वनं बहूदकं विद्यते यत्र वा।

३४७. **रजसस्पतिः जिष्णुः**—**रजसः पतिः**। "**लोका रजांसि उच्यन्ते**" [नि० ४.१९], "**इमे वै लोका रजांसि**" [शत० ६.३.१.१८]। **जिष्णुः** = **जयशीलः**। '**जि-जये**' धातु से "**ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः**" [अ० ३.२.१३९] सूत्र से क्स्नुः प्रत्यय।

३४८. **वसुभिः**—'**वस-निवासे**' धातु से उः प्रत्यय। "**वसवः रश्मिनाम**" [निघ० १.५]। "**इन्द्रो वसुभिर्वासव इति समाख्या तस्मान्मध्यस्थानाः। वसव आदित्यरश्मयो विवासनात् तस्माद् द्युस्थानाः**" [नि० १२.४२] "**वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च.....चैते वसवः, ऐते ही दं सर्वं वासयन्ते**" [शत० ११.६.३.६], **वायुर्वै वसुरन्तरिक्षसत्**" [शत० ६.७.३.११]।

अस्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (वरुणः)[३४९] संवत्सर (आदित्येभिः)[३५०] बारह मासों में विभक्त आदित्यों के साथ (सुशंसः) प्रशंसनीय रूप से (शम्) सुख-शान्तिकारक होवें, (जलाषः)[३५१] दुःखों को दूर करके सुख देने वाला (रुद्रः) जीवात्मा (रुद्रेभिः) प्राणों के साथ (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे, (त्वष्टा)[३५२] तेजस्वी यजमान (ग्नाभिः[३५३] इह नः शम्) उत्तम उपदेशों तथा मन्त्रोपदेशों के साथ इस यज्ञ में आकर हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, और (श्रृणोतु) हमारे वचनों को शान्तिभाव से सुने।।६।।

शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्व१ः शम्वस्तु वेदिः।।७।।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (सोमः)[३५४] यज्ञीय सोम ओषधि (नः शं भवतु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे, (ब्रह्म)[३५५] यज्ञ में उच्चरित वेदमन्त्र (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (ग्रावाणः)[३५६] यज्ञीय साधनभूत शिलाफलक आदि पदार्थ (नः शम्) हमारे

---

३४९. वरुणः—**"संवत्सरो वरुणः"** [शत० ४.४.५.१८], **संवत्सरो हि वरुणः"** [शत० ४.१.४.१०], **वरुण आदित्यैरुदक्रामत्"** [ऐ० १.२४], **वरुण आदित्यैः व्यद्रवत्"** [शत० ३.४.२.१]।

३५०. आदित्येभिः—**"कतम आदित्या इति? द्वादशमासाः संवत्सरस्यैत ऽआदित्याः, एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति"** [शत० ११.६.३.८]।

३५१. जलाषः—**'जल-अपवारणे'** धातु से आषच् प्रत्यय। **"जलाषः सुख नाम"** [निघ० ३.६]।

३५२. त्वष्टा—**'त्विष-दीप्तौ'** धातु से तृन् प्रत्यय। **"त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः"** [नि० ८.१४], **"त्वष्टा यजमानः"** [काठ० ७.१०]

३५३. ग्नाभिः—**"ग्नाः-वाङ्नाम'** [निघ० १.११], **"छन्दांसि वै ग्नाः, छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति"** [शत० ५.५.४.७१]।

३५४. सोमः—**"सोमः—ओषधिः सोमः, सुनोतेर्यदेनमभिषुण्वन्ति"** [नि० ११.२], **"सोम ओषधीनामधिराजः"** [गो०उ० १.१७]।

३५५. ब्रह्म—**"वाग् ब्रह्म** [गो०पू० २.१०], **"अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते इति? त्रय्या विद्ययेति"** [ऐ० ५.३३]।

३५६. ग्रावाणः—**"ग्रावाणः = शिलाफलकादयः"** [ऋ०द०भा०यजु० १८.२१]।

लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (यज्ञाः) सभी प्रकार के यज्ञ (उ) निश्चय से (शम्) सुख-शान्तिकारक (सन्तु) होवें, (स्वरूणां मितयः)[३५७] यज्ञीयस्तम्भों के परिमाण अर्थात् उपयुक्त परिमाण से बने स्तम्भ और उन पर निर्मित यज्ञशालाएं (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (प्रस्वः[३५८] नः शम्) यज्ञ का नेता हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे, (वेदिः) यज्ञ-वेदि (उ) निश्चय से (शम् अस्तु) सुख-शान्तिकारक होवे ।।७।।

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ।।८।।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (उरुचक्षाः[३५९] सूर्यः) बहुत तेज= प्रकाशयुक्त सूर्य (नः शम् उदेतु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक रूप में उदय होवे, (चतस्रः प्रदिशः) पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण-ये चारों प्रमुख दिशाएं (नः शं भवन्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (ध्रुवयः पर्वताः) स्थिर अर्थात् न धंसने और न स्खलित होने वाले पर्वत (नः शं भवन्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (सिन्धवः)[३६०] नदियां और समुद्र (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (आपः) सभी जल (नः) हमारे लिए (शं सन्तु) सुख-शान्तिकारक होवें ।।८।।

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ।।९।।

---

३५७. **स्वरूणां मितयः—"स्वरूणाम् = यज्ञशालास्तम्भ शब्दानाम्"** [ऋ० दया० भा० ऋ० ७.३५.७], **"स्वरुः—एतस्माद् (यूपात्) वा एषो (शकल) अपछिद्यते तस्मै तत्स्वमेवारुर्भवति, तस्मात् स्वरुर्नाम"** [शत० ३.७.१.२४] **मितयः = परिमाणानि।**

३५८. **प्रस्वः—प्र + स्व। प्रकृष्टा स्वे स्वकीया जनाः यस्य सः (विवस्वान् = सूर्य इव अतिथिः)** [ऋ०दया०भा०ऋ० ७.९.२], **अथवा यज्ञस्य नेता।**

३५९. **उरुचक्षाः—उरु + चक्षस्।** "**उरु बहुनाम**" [निघ० ३.१] '**चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शनेऽपि**' धातु से असुन् प्रत्यय। "**उरूणि बहूनि चक्षांसि दर्शनानि यस्मात् सः सूर्यः**" [ऋ०दया०भा०ऋ० ७.३५.८] ।

३६०. **सिन्धवः—'स्यन्दू-प्रस्रवणे'** धातु से उः प्रत्यय, धातु के द को ध। "**सिन्धवः नदी नाम**" [निघ० १.१३], "**सिन्धुः स्रवणात्**" [नि० ५.२७], "**सिन्धूनाम् = स्यन्दमानानाम्**" [नि० १०.५] ।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (अदितिः)[३६१] यह पृथिवी (व्रतेभिः)[३६२] अपनी क्रियाओं से, अन्न आदि पदार्थों के उत्पादन से (नः शं भवतु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे, (स्वर्काः[३६३] मरुतः) प्रशंसित और अन्नादि उत्पादक वायुएं (नः शं भवन्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (विष्णुः[३६४] न शम्) सूर्य हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे, (पूषा)[३६५] पुष्टिकारक पदार्थ (नः शम् अस्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (भवित्रं[३६६] नः शम्) हमारा प्रत्येक कार्य हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे, (वायुः उ शम् अस्तु) प्राणवायु निश्चय से हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे।।९।।

शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः।।१०।।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (त्रायमाणः[३६७] देवः सविता) रोग, अन्धकार आदि से रक्षा करता हुआ दिव्य गुण-शक्तिसम्पन्न सूर्य (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे, (विभातीः उषसः)[३६८] उज्ज्वल

---

३६१. अदितिः—द्र० १७२, २०५, २३० संख्या पर टिप्पणी।

३६२. व्रतेभिः—"**व्रतमिति कर्मनाम**" [निघ० २.१], "**व्रतं कर्मनाम वृणोतीति सतः**" [नि० २.१३], "**अन्नमपि व्रतमुच्यते यदावृणोति शरीरम्**" [नि० २.१३], "**अन्नं वै व्रतम्**" [तां०२३.२७.२; २२.४.५; शत० ६.६.४.५; ७.५.१.२५]।

३६३. स्वर्काः—सु+ अर्क। "**अर्कः अन्ननाम**" [निघ० २.७], "**स्वर्कैः स्वर्चनैरिति वा**" [नि० ११.१४], "**अर्कमन्नं भवति, अर्चति भूतानि**" [नि० ५.४]।

३६४. विष्णुः—"**स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः।**" [शत० १४.१.१.६]।

३६५. पूषा—'**पुष्-पुष्टौ**' धातु से कनिन् प्रत्यय। "**पुष्टिर्वै पूषा**" [तै० २.७.२.१]।

३६६. **भवित्रम्—भवितव्यं कार्यम्।**

३६७. **त्रायमाणः—'त्रैङ्-पालने'** धातु से शानच् प्रत्यय।

३६८. **विभातीः—'वि+ भा-दीप्तौ'** धातु से शतृ प्रत्यय, स्त्रीलिंग में 'ङीप्'। **विभातीः+ विशेषेण दीप्तिमत्यः।**

प्रभातवेलाएं (नः शं भवन्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (पर्जन्यः) मेघ (प्रजाभ्यः) सब प्रजाओं = प्राणियों के लिए और (नः शं भवतु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे। (क्षेत्रस्य[३६९] पतिः शम्भुः) इस जगत् का स्वामी शम्भु = सुखदाता परमात्मा (न शम् अस्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे।।१०।।

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु। शमभिषाचः शमुरातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः।।११।।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (देवाः विश्वदेवाः) दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव से सम्पन्न सभी विद्वान् (नः शं भवन्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (सरस्वती)[३७०] वेदवाणी और वाणी (धीभिः सह) उत्तम बुद्धियों को प्रदान करती हुई (शम् अस्तु) सुख-शान्तिकारक होवे, (अभिषाचः)[३७१] व्यवहार से सम्बद्ध जन (शम्) सुख-शान्तिकारक होवें, (रातिषाचः)[३७२] विद्या, धन, पदार्थ आदि देने वाले जन (उ) निश्चय से (शम्) सुख-शान्तिकारक होवें, (दिव्याः पार्थिवाः अप्याः)[३७३] द्युलोकस्थ, पृथिवीलोकस्थ और अन्तरिक्ष लोकस्थ सभी पदार्थ (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें।।११।।

---

३६९. **क्षेत्रस्य**—'क्षि-निवासगत्योः' अथवा 'क्षि-क्षये' धातुओं से "**दाविभ्यश्छन्दसि**" [उणा० ४.१७०] सूत्र से त्रन् प्रत्यय। "**क्षेत्रम्-क्षियतेर्निवासकर्मणः**" [नि० १०.१४], "**क्षयन्ति निवसन्ति यस्मिन् जगति तस्य**" [ऋ० दया०भा०ऋ० ७.३५.१०]।

३७०. **सरस्वती**—'**सृ-गतौ**' धातु से असुन्प्रत्यय होकर 'सरस्' रूप बना, इससे मतुप् प्रत्यय, स्त्रीलिंग में ङीप्। **गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च।** "**सरस्वती वाङ्नाम**" [निघ० १.११], "**वाक् सरस्वती**" [शत० ७.५.१.३१]।

३७१. **अभिषाचः**—**अभि** + '**षच-समवाये**' धातु से अच् प्रत्यय। "**ये आभिमुख्येन सचन्ति ते (सहाय्याः जनाः)**" [ऋ०दया०भा०ऋ० ६.६३.९]।

३७२. **रातिषाचः**—**राति** + '**षच-समवाये**' धातु से अण् प्रत्यय। '**रा-दाने**' धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर रातिः। "**रातिः दत्तिः**" [नि १२.१०]। '**ये रातिं दानं सचन्ते ते जनाः।**

३७३. **अप्याः**—"**आपः अन्तरिक्षनाम**" [निघ० १.३]। **अप्सु भवाः, अप्याः।**

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु।।१२।।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (सत्यस्य पतयः) सत्याचरण के पालक और रक्षक अर्थात् सत्याचारी जन (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (अर्वन्तः)[३७४] वाहन के रूप में प्रयुक्त होने वाले अश्व आदि पशु (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (गावः) दूध देने वाले गाय आदि पशु (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (सुहस्ताः सुकृतः ऋभवः)[३७५] अपने हाथों से शोभन कर्म या कल्याण करने वाले, उत्तम आचरण वाले मेधावी जन (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (पितरः)[३७६] माता-पिता आदि वयोवृद्ध जन (हवेषु) हमारे द्वारा आह्वान करने पर (नः शं भवन्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारी होवें।।१२।।

शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः ½ शं समुद्रः।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा।।१३।।

[ऋ० मं० ७। सू० ३५। मं० १-१३।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (अजः देवः एकपात्)[३७७] अप्रकट रूप

---

३७४. **अर्वन्तः**—'**ऋ-गतिप्रापणयोः**' धातु से वनिप् प्रत्यय। "**अर्वान् ईरणवान्**" [नि० १०.३१]। "**अश्वनाम**" [निघ० १.१४]।

३७५. **ऋभवः**—"**ऋभुः—मेधाविनाम**" [निघ० ३.१५]. "**ऋभव उरु भान्तीति, ऋतेन भान्तीतिवा, ऋतेन भवन्तीति वा**" [नि० ११.१६]

३७६. **पितरः**—'**पा-रक्षणे**' धातु से तृजन्त निपातन। **पाति रक्षतीति पिता। माता च पिता चेति पितरौ।** "**पिता पाता वा पालयिता वा**" [नि० ४.२१]। "**ये पान्ति पितृवद् रक्षन्ति विद्यासुशिक्षादिदानैस्ते पितरः**" [ऋ०दया०भा०ऋ० १.६२.२]।

३७७. **अजः एकपात्**—'**जनी-प्रादुर्भावे**' धातु से उः प्रत्यय, नञ् समास में 'अजः'। **न जायते, इति 'अजः'।** "**ब्रह्म वाऽअजः**" [शत० ६.४.४.१५]। "**सर्वं जगदेकस्मिन् पादे यस्य सः एकपाद् ईश्वरः**" "**एकः पादो बोधो यस्य सः**" "**एकः पादो जगति यस्य सः**" "**सर्वं जगदेकस्मिन् पादे यस्य सः**" [ऋ०दया०भा०यजु० ५.३३; ३४.५३; ऋ० ६.५०.१४; ७.३५.१३]।

वाला = सूक्ष्म, दिव्यगुण वाला वायु अथवा अजन्मा, दिव्य गुण सम्पन्न परमात्मा (नः शम् अस्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे, (बुध्न्यः अहिः)[३७८] आकाशस्थ मेघ (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे, (समुद्रः) समुद्र भी (शम्) सुख-शान्तिकारक होवे, (पेरुः[३७९] अपांनपात्)[३८०] प्राणियों का वर्षा द्वारा पालक विद्युत् (नः शम् अस्तु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे। (देवगोपा पृश्निः) आप देवों के देव परमात्मा द्वारा सुरक्षित एवं धारित द्युलोक और द्युलोकस्थ सूर्य (नः शं भवतु) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवे।।१३।।

इन्द्रो विश्वस्य राजति। शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।।१४।।

अर्थ—(इन्द्रः) परमात्मा (विश्वस्य राजति)[३८१] विश्व को प्रकाशित करता है, वह विश्व का सर्वोच्च शासक है, अथवा सूर्य जगत् को प्रकाशित करता है, वह (नः) हमारे (द्विपदे शम्) दो पैर वाले पुत्र, सम्बन्धी आदि के लिए सुख-शान्तिकारी और (चतुष्पदे) चार पैर वाले गाय आदि पशुओं के लिए (शम् अस्तु) सुख-शान्तिकारक होवे।।१४।।

शन्नो वातः पवतांꣳ शन्नस्तपतु सूर्य्यः।
शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु।।१५।।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (वातः) वायु (नः) हमारे लिए (शं पवताम्) सुख-शान्तिकारी बहे, (सूर्य) सूर्य (नः) हमारे लिए (शं तपतु) सुख-शान्तिकारी तपे = प्रकाशित हो, (कनिक्रदद्[३८२] देवः पर्जन्यः)

---

३७८. **बुध्न्यः अहिः—"बुध्नमन्तरिक्षम्, बद्धा अस्मिन् घृता आपः इति वा"** [नि० १०.४४], **"योऽहिः स बुध्न्यः, बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात्"** [नि० १०.४४]। **"अहिः मेघनाम"** [निघ० १.१०]।

३७९. **पेरुः—'पॄ-पालन पूरणयोः'** धातु से रुः प्रत्यय, रपर तथा अ को एकारादेश। **पाता पालयिता वा।**

३८०. **अपांनपात्—अपाम् = जलानाम्, नपात् = अपत्यः विद्युत्, अप्सुभवात्। "नपात् = अपत्यनाम"** [निघ० २.२]।

३८१. **राजति—'राजृ-दीप्तौ'** धातु का लट् लकार में प्रयोग। **"राजति ऐश्वर्यकर्मा"** [निघ० २.२१]। **प्रकाशयति, ऐश्वर्यवान् भवति, शासते वा।**

३८२. **कनिक्रदत्—'क्रदि-आह्वाने रोदने च'** धातु से **"दाधर्ति-दर्धर्ति...."** [अ०

गड़गड़ाता दिव्य शक्तिसम्पन्न मेघ (नः) हमारे लिए (शम् अभिवर्षतु) सुख-शान्तिकारी सब ओर बरसे।।१५।।

अहानि शम्भवन्तु नः शं रात्रीः प्रति धीयताम्।
शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः।।१६।।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (अहानि) दिन (नः) हमारे लिए (शं भवन्तु) सुख-शान्तिकारी होवें, (रात्रीः) रात्रियां (शं प्रतिधीयताम्) सुख-शान्ति को धारण करें। (इन्द्राग्नी)[३८३] विद्युत् और अग्नि अथवा प्राण-अपान, प्राण उदान (अवोभिः) अपने रक्षात्मक उपायों-साधनों से (नः) हमारे लिए (शं भवताम्) सुख-शान्तिकारक होवें, (रातहव्या) आवश्यक पदार्थों को देने वाले (इन्द्रावरुणा) वायु और जल (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (इन्द्रासोमा) सूर्य और चन्द्र (सुविताय) ऐश्वर्य प्रदान करने के लिए (शंयोः) रोगों और भयों के निवारण के लिए (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें, (इन्द्रापूषणा) आकाश या आकाशस्थ मेघ और पृथिवी (वाजसातौ) अन्न-धन की प्राप्ति में (नः शम्) हमारे लिए सुख-शान्तिकारक होवें।।१६।।

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभिस्रवन्तु नः।।१।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (देवीः आपः) दिव्यगुण-युक्त जल (अभिष्टये) इष्ट सुख की प्राप्ति के लिए और (पीतये) पीने के लिए (नः) हमको (शं भवन्तु) सुख-शान्तिकारक होवें, वे (नः) हमारे लिए (शंयोः) सुख-शान्ति की (अभि स्रवन्तु) चारों ओर से वर्षा करें।।१७।।[३८४]

७.४.६५] सूत्र से लङ् लकार में च्लि को अङ् आदेश, वैदिक निपातन। "**कनिक्रदत्** = **न्यक्रन्दीत्**" [नि० ९.३]।

३८३. **इन्द्राग्नी**—सभी पदों के प्रमाणों के लिए द्रष्टव्य शान्ति० मन्त्र १ पर टिप्पणियां।

३८४. **सभी पदों पर टिप्पणियां और आध्यात्मिक अर्थ सन्ध्यामन्त्रों के प्रारम्भ में द्रष्टव्य हैं।**

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ।।१८।।

अर्थ–हे प्रभो आपकी कृपा से हमारे लिए (द्यौः शान्तिः) द्युलोक सुख-शान्तिकारी होवे, (पृथिवी शान्तिः) पृथिवी सुख-शान्तिकारी होवे, (आपः शान्तिः) जल सुख-शान्तिकारी होवे, (ओषधयः[३८५] शान्तिः) ओषधियां सुख-शान्तिकारी होवें, (वनस्पतयः[३८६] शान्तिः) वनस्पतियां = वृक्ष-पौधे आदि सुख-शान्तिकारी होवें, (विश्वेदेवाः) सब दिव्यशक्तियुक्त पदार्थ अथवा सब विद्वान् सुख-शान्तिकारी होवें, (ब्रह्म शान्तिः) वेदज्ञान सुख-शान्तिकारी होवे, (सर्वं शान्तिः) जगत के सब जड़-चेतन पदार्थ सुख-शान्तिकारी होवें, (शान्तिः एव शान्तिः) जीवन में शान्ति ही शान्ति प्राप्त होवे, और (सा मा शान्तिः एधि) वह प्राप्त शान्ति बढ़ती ही रहे अर्थात् संसार और जीवन में सर्वत्र शान्तिमय वातावरण हो और वह निशदिन बढ़ता रहे ।।१८।।

तच्चक्षुर्देवहितम्पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ श्रृणुयाम शरदः शतम्प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ।।१९।।

अर्थ–(देवहितम्) देवों के देव परमात्मा द्वारा धारण किया हुआ अथवा सभी दैवी पदार्थों के लिए हितकारी (तत् शुक्रं चक्षुः) वह उज्ज्वल प्रकाशस्वरूप चक्षु = जगत् के पदार्थों को दिखाने वाला चक्षुरूप सूर्य (पुरस्तात् उच्चरत्) पूर्वदिशा से उदित हुआ है = उदित होता है। हे प्रभो आपकी कृपा से हम सूर्यादि पदार्थों से आरोग्य लाभ करते हुए (शतं शरदः पश्येम) सौ वर्षों तक देखने में समर्थ रहें, (शतं शरदः जीवेम) सौ

---

३८५. **ओषधयः–"ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः"** [मनु० १.४६] = फल आने के बाद पककर सूख जाने वाले और जिन पर बहुत फूल-फल लगते हैं, वे 'ओषधि' कहलाते हैं, जैसे–गेहूं, चना आदि।

३८६. **वनस्पतयः–"अपुष्पा फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः"** [मनु० १.४७] = बिना फूल आये ही जिन पर फल लगते हैं, वे 'वनस्पतियां कहलाती हैं, जैसे– बड़, पीपल, गूलर आदि।

वर्षों तक जीयें, (शतं शरदः श्रृणुयाम) सौ वर्षों तक सुनने में समर्थ रहें, (शतं शरदः प्रब्रवाम) सौ वर्षों तक बोलने में समर्थ रहें, (शतं शरदः अदीनाः स्याम) सौ वर्षों तक हम दीनतारहित = उत्साहसमर्थ बनें रहें, बलयुक्त बने रहें, (च) और (शतात् शरदः भूयः) सौ वर्षों से भी अधिक समय तक हम जीवित रहकर उक्त क्रियाओं में समर्थ रहें।।१९।।[३८७]

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।२०।।

अर्थ—हे परमात्मन्! (दैवम्) मेरा दिव्य गुणयुक्त, इन्द्रियों का प्रकाशक मन (यत् जाग्रतः) जैसे जागते हुए (दूरम् + उदैति) दूर-दूर तक चला जाता है, (तत् + उ) वही मेरा मन (तथैव) उसी प्रकार (सुप्तस्य एति) सोते हुए का भी दूर तक जाता है। (दूरङ्गमम्) दूर तक जाने वाला, दूर तक जाने के स्वभाव वाला, (ज्योतिषाम् ज्योतिः)[३८८] शब्द आदि विषयों की प्रकाशक इन्द्रियों का भी प्रकाशक = साधक (एकम्) जो एक ही है (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पमस्तु) शुभ संकल्प-विकल्प = विचारों वाला होवे।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।२१।।

[यजु० ३४.२]

अर्थ—(येन) जिस मन के द्वारा (अपसः)[३८९] कर्त्तव्यनिष्ठ लोग, महान् कर्म करने वाले लोग (मनीषिणः) मनस्वी जन (धीराः) धैर्यशाली जन (विदथेषु)[३९०] ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विशेष अवसरों पर अथवा ऐसे

---

३८७. **मन्त्र का अध्यात्मपरक अर्थ तथा टिप्पणियां सन्ध्या मन्त्रों में द्रष्टव्य हैं।**

३८८. **ज्योतिषां ज्योतिः**—प्रकाशकों का भी प्रकाशक मन, वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान एवं ग्रहण कराने वाला। "**यथामूनि त्रीणि ज्योतींषि, एवमिमानि पुरुषे त्रीणि ज्योतींषि..... आत्मनि हृदयम्।**" [शा०आ० ७.४]

३८९. **अपसः—'अपः कर्मनाम**" [निघ० २.१]। "**आप्यते सुखंयेन तद् अपः अपत्यं सुकर्म वा। अपसः = कर्मनिष्ठाः धीराः जनाः।**

३९०. **विदथेषु—'विद्-ज्ञाने'** धातु से अथः प्रत्यय। "**विदथानि वेदनानि**" [नि० ६.७], **विदथा वेदनेन**" [नि० ३.१२], **विदथेषु यज्ञेषु**" [नि० ८.१२]।

(यज्ञे) यज्ञ में (कर्माणि कृण्वन्ति) कर्त्तव्य कर्मों को करते हैं, (यत् + अपूर्वम्) जो अद्भुत सामर्थ्य से युक्त है, और (यक्षम्) पूजनीय है, जो (प्रजानाम् अन्तः) प्राणियों के भीतर स्थित है, (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पम् + अस्तु) शुभ संकल्प-विकल्प अर्थात् शुभ विचारों वाला होवे।।।१८।।

यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।२२।।

[यजु० ३४.३]

अर्थ–(यत्) जो मन (प्रज्ञानम्) प्रकृष्ट ज्ञान का साधन है (उत) और (चेतः) चेतना का आधार या चेतानेहारा है (च) और (धृतिः) धैर्य आदि का साधक है (च) और (यत्) जो (प्रजासु अन्तः) प्राणियों के भीतर (अमृतं ज्योतिः) आत्मा का साथ होने से नाशरहित तथा इन्द्रियार्थों का प्रकाशक होकर स्थित है। (यस्मात् ऋते) जिसके बिना (किंचन कर्म न क्रियते) कोई भी कर्म नहीं किया जाता, (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पम् + अस्तु) शुभ संकल्प-विकल्प अर्थात् शुभ विचारों वाला होवे।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।२३।।

अर्थ–(येन) जिस (अमृतेन) नाशरहित मन से (इदं सर्वम्) यह सब (भूतं भुवनं भविष्यत्) भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल में होने वाला व्यवहार (परिगृहीतम्) पकड़ा हुआ है अर्थात् जिससे जाना जाता है, (येन) जिसके द्वारा (सप्तहोता यज्ञः[३९१] तायते) सात

---

३९१. **सप्तहोता यज्ञ**–सात होताओं के द्वारा मिलकर सम्पन्न किये जाने वाले बृहद् यज्ञ को 'सप्तहोतृयज्ञ' कहा जाता है। सप्तहोताओं के नाम है–होतृ, पोतृ, नेष्टृ, आग्नीध्र, प्रशास्तृ, अध्वर्यु और ब्रह्मा। इनका उल्लेख ऋग्वेद के २.१.२ मन्त्र में हुआ है–
तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे।।
"**सप्तहोता = सप्त प्राणा होतार आदातारो यस्य सः**" [ऋषि०द० भा०ऋ० ३.२९.१४]।

होताओं से सम्पन्न किया जाने वाला यज्ञ अनुष्ठित किया जाता है, अथवा पांच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा, इन सात साधकों के द्वारा ज्ञान-विज्ञान या शुभकर्मरूप यज्ञ सम्पन्न किया जाता है (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पम्! अस्तु) शुभ संकल्प-विकल्प = शुभ विचारों वाला होवे।

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।२४।।

अर्थ—(यस्मिन्) जिस मन में (रथनाभौ इव आराः) जैसे रथ की नाभि = धुरे में आरे लगे होते हैं, ऐसे (यस्मिन्) जिसमें (ऋचः साम यजूंषि) ऋक्, साम, यजु त्रयीविद्यारूप ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, ये चार वेद प्रतिष्ठित होते हैं। (यस्मिन्) जिस मन में (प्रजानाम्) प्राणियों की (सर्वम्) सब (चित्तम्) चिन्तन या स्मरण शक्ति (ओतम्) ओत-प्रोत है, संयुक्त है, (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पम् + अस्तु) शुभ संकल्प-विकल्प = शुभ विचारों वाला होवे।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।२५।।

[यजु० अ० ३४ । मं० ४-६ ।

अर्थ—(सुषारथिः) जैसे कुशल सारथि (अभीशुभिः) लगाम की रस्सियों से (वाजिनः अश्वान्) वेगवान् घोड़ों को इच्छानुसार चलाता है और वश में रखता है, (इव) उसी प्रकार (यत्) यह मन भी (मनुष्यान् नेनीयते) मनुष्य आदि प्राणियों को अपनी शक्तियों से पुनः पुनः इधर-उधर ले जाता है। (यत्) जो यह हृदय में स्थित है और (अजिरम्) जीर्ण न होने वाला है, (जविष्ठम्) अत्यन्त वेगवान् है (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पम् + अस्तु) शुभ संकल्प-विकल्प = शुभ विचारों वाला होवे। ।।१८।।

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते।
शं राजन्नोषधीभ्यः ।।२६।।—साम० उत्तरा० १।१।३

अर्थ–(राजन्) हे सर्वोपरि विराजमान, जगत् के शासक परमात्मन्! (सः) वह अभीष्ट देने में समर्थ आप (नः) हमको (पवस्व) पवित्र करो, (गवे शम्) दूध देने वाले गाय आदि पशुओं के लिए सुख-शान्ति प्रदान करो, (जनाय शम्) सभी मनुष्यों को सुख-शान्ति प्रदान करो, (अर्वते[३९२] शम्) वाहन के लिए उपयोगी शीघ्रगामी अश्व आदि पशुओं के लिए आप सुख-शान्ति प्रदान करो, (ओषधीभ्यः शम्) आरोग्यदायक ओषधियों के लिए आप सुख-शान्तिकारक अर्थात् गुण-लाभवर्धक, रक्षक होवें।।२६।।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु।।२७।।

[अथर्व० १९।१५।५]

अर्थ–हे प्रभो आप अपनी कृपा से (नः) हमारे लिए (अन्तरिक्षम् अभयं करत्)[३९३] सम्पूर्ण आकाश को भयरहित कर दो, (इमे उभे द्यावापृथिवी अभयम्) इन द्युलोक और पृथिवी लोकों को भयरहित कर दो, (नः) हमें (पश्चात् अभयम्) पीछे की दिशा से, अथवा परोक्ष में अभय प्राप्त हो, (पुरस्ताद् अभयम्) सामने की दिशा से, अथवा प्रत्यक्ष में अभय प्राप्त हो, (उत्तरात्[३९४] अभयम्) ऊपर-दिशा से अभय प्राप्त हो, (अधरात् अभयम् अस्तु) निम्न-दिशा से अभय प्राप्त हो अर्थात् हमें सब प्राकृतिक पदार्थों से, सब ओर से, सब समय में भयरहित वातावरण मिले; तथा हमें इतनी शक्ति प्रदान करोकि हम निर्भय बने रहें।।२७।।

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।।२८।।

–अथर्व० १९।१५।६

---

३९२. **अर्वते**–द्रष्टव्य शान्ति० मन्त्र १२ पर 'अर्वन्तः' पर टिप्पणी संख्या ३७४।

३९३. **करत्–'डुकृञ्-करणे'** धातु का लेट् लकार का प्रयोग। **करत्** = **कुर्यात्**।

३९४. **उत्तरात्** = यहाँ 'उत्तर' पद 'अधर' का विलोम है। "**उत्तरः उद्धततरो भवति**" [नि० २.११]।

अर्थ—हे प्रभो आपकी कृपा से (मित्रात्)[३९५] मित्र से (अभयम्) अभय हो, (अमित्रात् अभयम्) शत्रु से भी भय न रहे, (ज्ञातात् अभयम्) प्रत्यक्ष में अभय हो, (परोक्षात् अभयम्) परोक्ष में अभय हो, (नक्तम् अभयम्) रात्रिकाल में अभय प्राप्त हो, (दिवानः अभयम्) दिवसकाल में हमें अभय प्राप्त हो, (सर्वा आशाः मम मित्रं भवन्तु) सब दिशाएं मेरी मित्र= स्नेहयुक्त और हानिरहित हो जायें। आपकी कृपा से हमें सब ओर से, सब समय में अभय प्राप्त हो और हम निर्भय बनें। इस प्रकार हम सुख-शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करें।।२८।।

इति शान्तिकरणम्

३९५. **मित्रात्**—मित्र से यहां ऐसे मित्र से अभिप्राय है जो प्रकट में मित्र होते हुए भी अवसर पाकर अथवा स्वार्थ आदि के वशीभूत होकर हानि कर जाता है। ऐसा व्यक्ति सबसे अधिक खतरनाक होता है। क्योंकि उसका बाह्य रूप कुछ होता आन्तरिक कुछ और। ऐसे ही तथाकथित मित्र के लिए कहा गया है—**विषकुम्भं पयोमुखम्**' = ऐसा घड़ा जिसके मुख पर अमृत है और भीतर विष है।' इसी कारण मन्त्र में पहले ऐसे मित्र से अभय की प्रार्थना की गयी है।

दैनिक अग्निहोत्र—शान्तिकरण के पश्चात् दैनिक अग्निहोत्र का अनुष्ठान **"ओम् अग्ने नय सुपथा०"** मन्त्र तक सम्पन्न करें। यदि बृहद् यज्ञ एक काल में ही किया जा रहा है तो दोनों कालों की आहुतियां दें। तत्पश्चात् बृहद् यज्ञ की आगे लिखी आहुतियां दें—

व्याहृति-आहुति-मन्त्र—

ओ भूरग्नये स्वाहा।। इदमग्नये—इदन्न मम।।
ओं भुवर्वायवे स्वाहा।। इदं वायवे—इदन्न मम।।
ओं स्वरादित्याय स्वाहा।। इदमादित्याय—इदन्न मम।।
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा।।
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदन्न मम।।

अर्थ—(ओम्) हे सर्वरक्षक परमेश्वर! (भूः + अग्नये) पृथिवी स्थानीय अग्नि के लिए = पृथिवीस्थानीय अग्नि की शुद्धि के लिए (स्वाहा) मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ। (इदम् अग्नये) यह आहुति अग्नि के लिए समर्पित है, (इदं मम न) यह मेरी नहीं है। अथवा प्राणाधार, दुर्गुणनाशक अग्निसंज्ञक परमात्मा को स्मरण कर मैं यज्ञाग्नि में यह आहुति प्रदान करता हूँ।।१।।

(ओम्) हे सर्वरक्षक परमेश्वर! (स्वः + आदित्याय) द्युस्थानीय सूर्य के लिए = सूर्य आदि लोकों की शुद्धि के लिए (स्वाहा) मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ। (इदम् + आदित्याय इदं मम न) यह आदित्य के लिए समर्पित है, यह मेरी नहीं है। अथवा, सुखस्वरूप एवं सुखदाता, अविनाशी आदित्यसंज्ञक परमात्मा को स्मरण कर मैं यज्ञाग्नि में यह आहुति प्रदान करता हूँ।।३।।

(ओम्) हे सर्वरक्षक परमेश्वर! (भूः + भुवः + स्वः) पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युस्थानीय (अग्नि + वायु + आदित्येभ्यः) क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य के लिए सम्मिलित रूप में (स्वाहा) मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ। यह उन्हीं के लिए समर्पित है, यह मेरी नहीं है। अथवा, उक्त गुणों एवं संज्ञाओं वाले परमात्मा को स्मरण कर मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ।।४।।[३९६]

---

३९६. यज्ञाग्नि में अर्पित आहुति तीनों लोकों में शुद्धि करती है और वैज्ञानिक

बारह आज्याहुति मन्त्र–

विधि–निम्न बारह मन्त्रों से केवल आज्य = घृत की आहुति दें–

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा।। इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम।।१।।

[ऋ० ९.९६.१९]

अर्थ–(ओम्) हे सर्वरक्षक परमात्मन्! (भूः-भुवः-स्वः)[३९७] आप सबके प्राणाधार, दुःख विनाशक, सुखस्वरूप एवं सुखदाता हैं। (अग्ने) हे दुर्गुणविनाशक, प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! आप (नः) हमारे (आयूंषि) जीवन को (पवसे) पवित्र करने वाले हो अतः जीवन को पवित्र करो, और (ऊर्जं च इषम्) बल तथा अन्नादि भोग्य पदार्थों को (आ सुव) प्राप्त कराओ। (दुच्छुनाम्)[३९८] दुष्टों को अथवा बुरी और राक्षसी प्रवृत्तियों को (आरे बाधस्व)[३९९] दूर कर दो = नष्ट कर दो, (स्वाहा) इस कामना से मैं यज्ञाग्नि में यह आहुति प्रदान करता हूँ, (इदम+पवमानाय अग्नये) यह आहुति पवित्र करने वाले, दुर्गुणविनाशक एवं प्रकाशस्वरूप अग्निसंज्ञक परमात्मा के लिए अर्पित है, अथवा शुद्धिकारक, अशुद्धिनाशक भौतिक अग्नि के लिए अर्पित है, (इदं मम न) यह मेरी नहीं है।।१।

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयं स्वाहा।। इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम।।२।।

[ऋ० ९.९६.२०]

तथा प्राकृतिक प्रक्रिया को सक्रिय कर प्रभावित करती है। वह वायु की सहायता से अथवा किरणों के द्वारा सूर्यादि लोकों में पहुंचकर समस्त वातावरण को प्रभावित करती है। तभी तो कहा है–"**अग्नौ प्रास्ताहुतिः**

३९७. व्याहृतियों के अर्थ और प्रमाण के लिए द्रष्टव्य हैं टिप्पणी संख्या........।

३९८. **दुच्छुनाम्–दुस्+ श्वन् पदों में समास। शुनम् = शुन-गतौ** धातु से कः प्रत्यय। "**शुनमिति सुखनाम**" [निघ० ३.६]। **दुष्टं शुनम्, अथवा दुर्गतं शुनं यस्मात्। "दुष्टः श्वान इव वर्तमानः", "दुष्टं शुनं गमनं यस्य सः दुच्छुनः।" "यो वाऽभिचरति यो वाऽभिदासति यः पापं कामयते स वै दुच्छुनः"** [जै० १.९३]।

३९९. **आरे–"आरे दूरनाम"** [निघ० ३.२६]।

अर्थ–(ओम्) हे सर्वरक्षक (भूः) सबके प्राणाधार (भुवः) दुःखहर्त्ता (स्वः) सुखस्वरूप एवं सुखदाता परमात्मन्! आप (अग्निः) दुर्गुणविनाशक एवं प्रकाशस्वरूप हैं, (ऋषिः)[४००] सबके सूक्ष्म द्रष्टा एवं ज्ञाता हैं, (पवमानः) पवित्रकर्त्ता (पाञ्चजन्यः)[४०१] सभी मनुष्यों अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद सभी जनों का पालनकर्त्ता हैं, (पुरोहितः)[४०२] सबके द्वारा एकमात्र उपासनीय हैं। (तं महागयम्)[४०३] ऐसे उस महा ऐश्वर्यशाली अथवा महती स्तुतियों वाले ईश्वर को हम (ईमहे)[४०४] प्राप्त होते हैं = उसकी प्राप्ति की कामना करते हैं, (स्वाहा) इसी कामना से मैं यह आहुति प्रदान करता हूं। (इदं पवमानाय अग्नये) पूर्व मन्त्र के समान।।२।।

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा।। इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम।।३।।

ऋ० ९ । ६६ । २१ ।।[2]

अर्थ–(ओम्) हे सर्वरक्षक, (भूः) सबके प्राणाधार (भुवः) दुःखहर्त्ता, (स्वः) सुखस्वरूप एवं सुखदाता (अग्ने) दुर्गुणविनाशक, प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (स्वपाः)[४०५] उत्तम कर्म करने वालों को

---

४००. **ऋषि–'ऋषि-गतौ'** धातु से **इगुपधात् कित्"** [उणा० ४.१२०]। सूत्र से इन् प्रत्यय और कित्। गति के तीन अर्थ होते हैं–ज्ञान गमन और प्राप्ति। किसी वस्तु के ज्ञानकर्त्ता, उसकी सूक्ष्मता में पैठ करने वाले और उसका ज्ञान द्वारा प्राप्त करने वाले को ऋषि कहते हैं।

४०१. **पाञ्चजन्यः–पञ्चन् + जन पदों में समास। 'पञ्चसु जनेषु भवः अथवा पञ्चजनेभ्यः हितः पाञ्चजन्यः।' "पञ्चजनाः मनुष्यनाम"** [निघ० २.३; १८.६७]।" **"पञ्चजनाः ममहोत्रं जुषध्वम्"** [ऋ १०.५३.४]. **"पञ्चजनाः = गन्धर्वा पितरो देवा असुरा रक्षांसि, इत्येके, चत्वारो वर्णाः निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः"** [नि० ३.८]।

४०२. **पुरोहितः**–द्रष्टव्य टिप्पणी संख्या...१८७

४०३. **महागयम्–महत् + गय पदों में समास। "महान्तो गया गृहाणि, प्रजा धनं स्तुतयश्च यस्य तम्।" "गयमिति गृहनाम** [निघ० २.१०]।

४०४. **ईमहे–"ईमहे याञ्चाकर्मा"** [निघ० ३.१९]

४०५. **स्वपाः–सु + अपस् पदों में समास। "अपः कर्मनाम"** [निघ० २.१]

(पवस्व)[४०६] प्राप्त होइये, पवित्र कीजिये, (अस्मे) हमारे लिए (वर्चः) तेज को, (सुवीर्यम्) पराक्रम को, (रयिम्) धन-ऐश्वर्य को, (पोषम्) पुष्टि को (दधत्) धारण कराइये और (मयि) मुझ में भी इन सबको धारण कराइये, (स्वाहा) इस कामना से मैं यह आहुति अर्पित करता हूं। (इदम् अग्नये....) पर्ववत्।।३।।

ओं भूर्भुवः स्वः। प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा।। इदं प्रजापतये–इदन्न मम।।४।।

ऋ० मं० १० । सू० १२१ । मं० १० ।।

अर्थ–(ओम्) हे सर्वरक्षक! (भूः भुवः स्वः) सबके प्राणाधार, दुःखहर्त्ता, सुखस्वरूप एवं सुखप्रदाता परमात्मन्! (प्रजापते)[४०७] हे प्रजाओं के पालक! (एतानि विश्वा जातानि) इन सब उत्पन्न प्रजाओं अथवा वस्तुओं को (त्वत् अन्यः) आपसे भिन्न कोई दूसरा (न परि ता बभूव) उत्पन्न धारण, व्याप्त करने में समर्थ नहीं है। (ते) उस ऐसे सर्वसमर्थ आपको (यत् कामाः जुहुमः) जिस-जिस कामना से आहुति प्रदान करते हैं, (तत् नः अस्तु) वे सब कामनाएं पूर्ण होवें, (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम धन-ऐश्वर्यों के स्वामी होवें, (स्वाहा) इस कामना से मैं यह आहुति देता हूँ। (इदं प्रजापतये, इदं न मम) यह आहुति प्रजापालक परमात्मा के लिए अर्पित है, यह मेरी नही हैं।।४।।

ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः। यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा।। इदमग्नीवरुणाभ्याम्–इदन्न मम।।५।। [ऋ० ४.१.४]

अर्थ–(ओम्) हे सर्वरक्षक (अग्ने) दुर्गुणविनाशक परमात्मन्!

"**स्वपसः सुकर्माण**" [नि० ८.१३]। '**शोभनानि अपांसि कर्माण यस्य सः।**'

४०६. **पवस्व–"पवते गतिकर्मा"** [निघ० २.१४], **अथवा 'पूङ्-पवने' धातु का लोट् प्रयोग।**

४०७. **प्रजापतिः**–द्रष्टव्य टिप्पणी संख्या.......।

(त्वम्) आप (देवस्य वरुणस्य विद्वान्) दिव्यगुण-कर्म-ज्ञान-स्वभाव वाले श्रेष्ठ विद्वानों के भी विद्वान् = सम्पूर्ण ज्ञाता हैं, अतः आप (हेलः[४०८] अव-यासिसीष्ठाः) हमारी अनादरजन्य बातों अथवा क्रोधभावना को जानकर उन्हें दूर कर दीजिये। मैं (यजिष्ठः) यजन करने वालों में श्रेष्ठ और श्रेष्ठ कर्म करने वालों में श्रेष्ठ,(वह्नितमः)[४०९] श्रेष्ठ कर्मों को वहन करने वाला = भलीभांति पालन करने वाला, (शोशुचानः)[४१०] तेजस्वी बनूं। (अस्मत् विश्वा द्वेषांसि) आप हमारे सम्पूर्ण द्वेषभावों = दुर्गुणों को (प्र मुमुग्धि) दूर कर दीजिये, (स्वाहा) इस कामना से मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ। (इदम् अग्नीवरुणाभ्याम्, इदं मम न) यह आहुति अग्नि = दुर्गुण विनाशक और वरुण = वरणीय रूप परमात्मा के लिए है, यह मेरी नहीं है।।५।।

ओं स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ।
अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि स्वाहा।
इदमग्नीवरुणाभ्याम्—इदन्न मम।।६।। ऋ० ४। १। ५।।

अर्थ—(ओम्) हे सर्वरक्षक (अग्ने) दुर्गुणविनाशक, प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (सः त्वम्) वह आप (ऊती)[४११] अपनी रक्षा के द्वारा (नः) हमारे (अवमः)[४१२] रक्षक (भव) होवो, (अस्याः उषसः व्युष्टौ[४१३]) इस

---

४०८. **हेलः—'हेडृ-अनादरे'** धातु से घञ्। "**हेडः क्रोधनाम**" [निघ० २.१३]

४०९. **वह्नितमः—वह्नि + तमप्** प्रत्यय। "**वह्नि वोढा**" [नि० ३.४], "**वह्नयः वोढारः**" [नि० ८.३]।

४१०. **शोशुचानः—'शुच्-दीप्तौ' धातु से** शानच् प्रत्यय। "**विपाजसा पृथुना शोशुचान इति। विपाजसा पृथुना दीप्यमानः**" [शत० ६.४.४.२१]

४११. **ऊती—'अव-रक्षणार्थक'** धातु से "**ऊतियूति०** [अ० ३.३.९७] सूत्र से क्तिन् प्रत्यय निपातन, "**ज्वर त्वर०**" [अ० ६.४.२०] सूत्र से ऊठ्। "**ऊतिरवनात्**" [निघ० ५.३], "**ऊती ऊत्या च पथा**" [नि० १२.२१]।

४१२. **अवमः—'अव-रक्षणार्थक'** धातु से 'अमः' प्रत्यय।

४१३. **व्युष्टौ—वि + उष्टि पदों में समास। उष्टिः = 'वश् कान्तौ'** धातु से क्तिन्।

उषःकाल के समय में (नेदिष्ठः)[४१४] हमारे समीपवर्ती होइये = हमें प्राप्त होइये। (रराणः)[४१५] हमारे द्वारा याचित पदार्थों को देते हुए (नः) हमारे लिए (वरुणम्) वरणीय = श्रेष्ठ विद्वान् अथवा जीवन को (अवयक्ष्व) संगत करें, प्राप्त करायें, और (मृडीकं[४१६] वीहि) सुख को प्राप्त कराने वाले होवें, तथा (नः) हमारे लिए (सुहवः) सुगमता से बुलाये जाने वाले (एधि) होइये, (स्वाहा) इस कामना से मैं यह आहुति देता हूं। (इदमग्नीवरुणाभ्याम्) पूर्ववत्।।६।।

ओम् इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय।
त्वामवस्युराचके स्वाहा।। इदं वरुणाय–इदन्न मम।।७।।

ऋ० १। २५। १९।।

अर्थ–(ओम्) हे सर्वरक्षक, (वरुण) सर्वव्यापक वरणीय परमात्मन्! (मे इमं हवं[४१७] श्रुधि) मेरी इस पुकार = प्रार्थना को सुनो (च) और (अद्य मृलय) अभी = तत्काल सुखीकर दो, (अवस्युः[४१८] त्वा आचके) रक्षा = कृपा का इच्छुक मैं आपको पुकारता हूँ, (स्वाहा) इस कामना से मैं यह आहुति देता हूँ। (इदं वरुणाय–इदं मम न) यह आहुति वरणीय प्रभु के लिए है, यह मेरी नहीं है।।७।।

ओं तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः।।
अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः स्वाहा।।
इदं वरुणाय–इदन्न मम।।८।। ऋ० १। २४। ११।।

---

४१४. **नेदिष्ठः–अन्तिक प्रातिपदिक से इष्ठन् प्रत्यय, नेदादेश। नेदिष्ठः = अतिशयेन समीपः।**

४१५. **रराणः–'रा-दाने'** धातु से शानच् प्रत्यय अथवा कानच्। **"रराणः रातिरभ्यस्तः"** [नि० २.१२]।

४१६. **मृडीकम्–'मृड्-सुखने'** धातु से **"मृडः कीकच्"** [उणा० ४.२४] सूत्र से कीकच् प्रत्यय।

४१७. **हवम्–"हवम् = ह्वानम्"** [नि० १०.२]।

४१८. **अवस्युः–'अव-रक्षणार्थक'** धातु से असुन् प्रत्यय। **'अवस्युः आत्मनोऽवो रक्षणमिच्छुः जनः।'**

अर्थ—(ओम्) हे सर्वरक्षक परमात्मन्! (तत् त्वा) उस आपको (ब्रह्मणा[४१९] वन्दमानः) वेदमन्त्रों द्वारा स्तुति करता हुआ अथवा यज्ञ द्वारा स्तुति-उपासना करता हुआ (यामि) प्राप्त होता हूँ। = शरण में आता हूँ, (यजमानः)[४२०] यज्ञानुष्ठान करने वाला (हविर्भिः) आहुति प्रदान करते हुए (तत् आशास्ते) इसी प्राप्ति की आशा करता है। (वरुण) हे वरणीय = उपासनीय प्रभो! (अहेलमानः)[४२१] मेरी प्रार्थनाओं—याचनाओं पर क्रुद्ध न होते हुए अथवा उनकी उपेक्षा न करते हुए आप (इह बोधि) इस उपासना-अनुष्ठान में ही हमारी प्रार्थना को सुनिये (उरुशंस)[४२२] सभी के द्वारा स्तुति करने योग्य परमेश्वर! (नः आयुः) हमारी आयु को (मा प्रमोषीः) क्षीण न होने दें अर्थात् पूर्ण आयु का उपभोग करायें अकालमृत्यु न हो, (स्वाहा) इसी कामना से मैं यह आहुति देता हूँ। (इदं वरुणाय) पूर्ववत्।।८।।

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः। तेभिर्नोऽअद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा।। इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः—इदन्न मम।।९।। [का० श्रौ० २५.१.११]

अर्थ—(ओम्) हे सर्वरक्षक परमात्मन्! (ते) आप द्वारा प्रदत्त यज्ञादि-अनुष्ठान विधि मे (ये शतं ये सहस्रम्) जो सैकड़ों और हजारों (यज्ञियाः) यज्ञसम्बन्धी (महान्तः पाशाः वितताः)[४२३] महान् पाश =

---

४१९. **ब्रह्म—वेद और यज्ञ। "अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति? त्रय्या विद्ययेति"** [ऐ० ५.३३], "**तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म**" [शत० २.१.४.१]। "**ब्रह्म वै यज्ञः**" [ऐ० ७.२२]।

४२०. **यजमानः**—द्रष्टव्य टिप्पणी संख्या २९०।

४२१. **अहेलमानः—'हेडृ-अनादरे'** धातु से शानच्, नञ् समास। "**अहेडमानः = अक्रुध्यन्**" [नि० ४.२५]

४२२. **उरुशंसः—'उरु + शंसु-स्तुतौ'** धातु से अण् प्रत्यय। "**उरु बहुनाम**" [निघ० ३.१]। '**बहुभिः प्रशंसितः, बहुप्रशंसितो वा।**'

४२३. **पाशाः—'पश-बन्धने'** धातु से घञ् प्रत्यय। "**पाशः + पाशयते र्विपाशनात्**" [नि० ४.२]। रोकने वाले बन्धन अर्थात् बाधाएं।

जाल = बाधाएं फैली हुई हैं = बाधाएं आती रहती हैं, (तेभिः अद्य) उनसे आज (नः) हमें (सविता[४२४] उत विष्णुः[४२५] विश्वे) सर्वोत्पादक और सर्वव्यापक परमात्मा, सभी विद्वज्जन (मरुतः)[४२६] ऋत्विज् जन (स्वर्काः)[४२७] तेजस्वी जन (मुञ्चन्तु) छुड़ायें, उन बाधाओं को दूर कर यज्ञ को सफल बनायें, (स्वाहा) इस कामना से मैं यह आहुति देता हूँ। (इदं वरुणाय सावित्रे विष्णवे) यह आहुति उपासनीय, सर्वोत्पादक, सर्वव्यापक परमात्मा के लिए (विश्वेभ्यो देवेभ्यः) समस्त दिव्यविद्वज्जनों, (मरुद्भ्यः) ऋत्विजों (स्वर्केभ्यः) तेजस्वी जनों के लिए है, (इदं मम न) यह मेरी नहीं है।।९।।

ओम् अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयासि।

अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजँ स्वाहा।।

इदमग्नये अयसे—इदन्न मम।।१०।। [का० श्रौ० १५.१.११]

अर्थ—(ओम्) हे सर्वरक्षक (अग्ने) दुर्गुणनिवारक प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आप (अयाः[४२८] असि) सर्वव्यापक हैं। (च) और (अनभिशस्तिपाः)[४२९] श्रेष्ठता के दाता एवं श्रेष्ठों के पालक हैं, (त्वम्) आप (सत्यम् इत्) यथार्थ में, निश्चयपूर्वक (अयाः असि) सर्वत्र व्याप्त हैं। आप (अयाः) सर्वत्र व्यापक होने से ही (नः यज्ञं वहासि) हमारे यज्ञ को सर्वत्र वहन करते हो = लक्ष्य तक पहुंचाकर पूर्ण करते हो। (अयाः) चराचर में व्यापक आप (नः) हमें (भेषजं धेहि) रोगनिवारक शक्ति को धारण करायें, (स्वाहा) इस कामना से मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ। (इदम् अग्नये अयसे, इदं मम न) यह आहुति दुर्गुण निवारक सर्वव्यापक परमात्मा के लिए है, यह मेरी नहीं है।।१०।।

---

४२४. **सविता**—द्र० टिप्पणी संख्या....१०४,१६२

४२५. **विष्णुः**—द्र० टिप्पणी संख्या.....७८, ३६४

४२६. **मरुतः**—द्र० टिप्पणी संख्या.....२७४

४२७. **स्वर्काः**—द्र० टिप्पणी संख्या.....३६३

४२८. **अयाः**—'**अय गतौ**' धातु से अच्, बहुवचन में असुक् आगम। "**अयासः अयनाः**" [नि० २.७]। '**यो ऽयति गच्छति सर्वत्र सः।**'

४२९. **अनभिशस्तिपाः**—'**अभि + शस्-हिंसायाम्**' धातु से क्तिन् प्रत्यय, नञ् समास। "**अनभिशस्तिः प्रशस्यनाम**" [निघ० ३.८]

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा।।
इदं वरुणायाऽऽदित्यायाऽदितये च—इदन्न मम।।११।।
ऋ० १। २४। १५।।

अर्थ—(ओम्) हे सर्वरक्षक (वरुण) वरणीय= श्रेष्ठ, उपासनीय परमात्मन्! (अस्मत्) हमारे जो (उत्तमं मध्यमम् अधमम्) उत्तम, मध्यम तथा अधम कोटि के सांसारिक बन्धन हैं, अथवा सत्त्व-रजस्-तमसात्मक, अथवा शरीर के शीर्षभाग में, मध्यभाग में, निम्नभाग में प्रभावी होने वाले सांसारिक बन्धन= संसार में लिप्त करने वाले विचार-कर्म हैं, उन्हें (उत् वि श्रथाय) ढीला करके छिन्न-भिन्न कर दो, (अथ) जिससे कि (वयम्) हम लोग (आदित्य)[४३०] हे अविनाशीस्वरूप प्रभो! (अनागसः)[४३१] पापरहित, शुद्ध-पवित्र मन वाले होकर (तव व्रते) आप द्वारा विहित आदेशों में रहते हुए (अदितये स्याम) अमृतत्व= मोक्ष के लिए प्रयत्नशील रहें, (स्वाहा) इस कामना से मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ। (इदं वरुणाय, आदित्याय, अदितये च, इदं मम न) यह आहुति उपासनीय, अविनाशीस्वरूप, मुक्तिप्रदाता परमात्मा के लिए है, यह मेरी नही है।।११।।

ओं भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञᳬं
हिᳬंसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा।।
इदं जातवेदोभ्याम्—इदन्न मम।।१२।। [यजु० अ० ५। मं० ३।।]

अर्थ—(ओम्) हे सर्वरक्षक परमेश्वर आपकी कृपा से (नः) हम सभी के हित के लिए यजमान और ऋत्विज् याज्ञिक गृहस्थ स्त्री और पुरुष (समनसौ)[४३२] समान मन वाले, (सचेतसौ)[४३३] समान विचारों वाले,

४३०. **आदित्यः**—द्र० टिप्पणी संख्या.....१७२, २०५, २३०

४३१. **अनागसः**—'**इण् गतौ**' धातु से असुन् प्रत्यय, धातु को अगादेश, नञ् समास। "**अनागाः= अनपराधः**" [नि० १०.११]

४३२. **समनसौ—समान= मनस्। समानं मनः ययोः, समानमनसौ वा। समान को स आदेश।**

४३३. **सचेतसौ—समान+ मनस्। समानं चेतसं ज्ञानं संज्ञापनं चित्तं वा ययोः, समान चेतसौ वा।**

(अरेपसौ)[४३४] पाप-अपराध-कुटिलता-छल-कपट आदि भावनाओं से रहित (भवतम्) होवें। वे (यज्ञम्) यज्ञ एवं शुभकार्य को और (यज्ञपतिम्) यज्ञानुष्ठान करने वाले एवं शुभकर्म करने वाले को (मा हिंसिष्टम्) हानि न पहुंचायें, उनमें किसी प्रकार की कमी न आने दें। इस प्रकार के आचरण वाले होकर वे (जातवेदसौ)[४३५] प्रबुद्ध ज्ञानी बनें (नः) हमारे लिए (अद्य) सदैव (शिवौ भवतम्) सुख-कल्याणकारी सिद्ध होवें, (स्वाहा) इस कामना से मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ। (इदं जातवेदोभ्याम्, इदं मम न) यह आहुति उन दोनों प्रबुद्ध ज्ञानियों के लिए अर्पित है, यह मेरी नहीं है।।१२।।

गायत्री-आहुति—इसके पश्चात् **गायत्री मन्त्र''** अथवा **''विश्वानि देव०''** मन्त्र से कम से कम तीन और अधिक इच्छानुसार आहुतियां दें। तत्पश्चात्

स्विष्टकृद्—आहुति-मन्त्र—

विधि—निम्न मन्त्र का अर्थविचारपूर्वक उच्चारण करके घृत की, भात की अथवा भोजन के लिए पकाये गये लवणरहित पदार्थ की एक आहुति दें—

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत् स्विष्टकृद् विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा।। इदमग्नये स्विष्टकृते—इदन्न मम।।

[तुलनार्थद्र० आ० गृ० १.२.७; आश्व० १.१०.२२; शत० १४.९.४.२४]

अर्थ—(ओम्) हे सर्वरक्षक परमात्मन् (अस्य कर्मणः) इस यज्ञ कर्म के अनुष्ठान में (यत् अत्यरीरिचम्) जो किसी विधि का अतिक्रमण हो गया है (वा) अथवा (इह) इस कर्म में (यत् न्यूनम् अकरम्) जो कुछ

---

४३४. **अरेपसौ—'रेप्-व्यक्तायां वाचि'** धातु से असुन् प्रत्यय, धातु से अकार को एकार, नञ् समास। **'रेप्यते स्पष्टं निन्द्यते इति रेपः= अपराधः, निन्द्यकर्म। अविद्यमानरेपसौ।**

४३५. **जातवेदसौ**—द्र० टिप्पणी संख्या....८९, १४१

न्यूनता मुझ से रह गयी है, (अग्निः) दोषनिवारक, ज्ञानप्रकाशस्वरूप और (स्विष्टकृत्)[४३६] इच्छाओं को भलीभांति पूर्ण करने वाला परमात्मा (मे सर्वं स्विष्टं विद्यात्) मुझ द्वारा अनुष्ठित समस्त यज्ञकर्म को श्रद्धा-आस्था से अनुष्ठित किया हुआ जाने और माने और उस यज्ञकर्म को (सुहुतं करोतु) भलीभांति आहुति दिया हुआ अर्थात् यज्ञ के लक्ष्य को प्राप्त कराने वाला बनाये। मैं इस भावना से (अग्नये) दोषनिवारक, ज्ञानप्रकाशस्वरूप (स्विष्टकृते) श्रद्धा-आस्था से अनुष्ठित यज्ञ को सफल बनाने वाले (सुहुतहुते) अच्छी प्रकार दी गयी आहुतियों को लक्ष्य तक पहुंचाने वाले (सर्वप्रायश्चित्त + आहुतीनाम्) सब प्रायश्चित्त आहुतियों के और (कामानाम्) समस्त कामनाओं के (समर्द्धयित्रे) फल को देकर बढ़ाने वाले परमात्मा के लिए (स्वाहा) यह आहुति देता हूँ, (नः सर्वान् कामान् समर्धय) वह हमारी प्रार्थना पर हमारी सब कामनाओं को पूर्ण कर हमें उन्नत करें। (इदम् अग्नये स्विष्टकृते इदं मम न) यह आहुति दोषनिवारक, ज्ञानप्रकाशस्वरूप, यज्ञ को सफल बनाने वाले परमात्मा के लिए है, यह मेरी नही हैं।

प्राजापत्य–आहुति-मन्त्र–

विधि–इसके पश्चात् निम्न मन्त्र से मौन रूप में अर्थविचार करते हुए एक आहुति दें। 'ओम्' और 'स्वाहा' पदों को प्रकट स्वर में बोलें, मध्य मन्त्र भाग को मौन भाव से विचारें। इस प्रकार सम्पूर्ण यज्ञकर्म को प्रजापति परमात्मा को समर्पित करें।

ओं प्रजापतये स्वाहा।। इदं प्रजापतये–इदन्न मम।।

(ओम्) सर्वरक्षक (प्रजापतये[४३७] स्वाहा) प्रजापालक परमपिता परमात्मा के लिए मैं यह आहुति अर्पित करता हूँ। (इदं प्रजापतये, इदं मम न) यह प्रजापति परमात्मा के लिए है, यह मेरी नही हैं।।

---

४३६. **स्विष्टकृत्–सु + इष्ट + कृत्। 'इषु-इच्छयाम्'** धातु से क्त प्रत्यय, स्विष्ट + कृत् = **'डुकृञ्-करणे'** धातु से क्विप् प्रत्यय = **शोभनम् इष्टं करोति सः स्विष्टकृत्, सुष्ठु इष्टकारी सुखकारी वा।**

४३७. **प्रजापति**–द्र० टिप्पणी संख्या....१२५, १५७

पूर्णाहुति–

विधि–इसके पश्चात् निम्न पूर्णाहुति मन्त्र का तीन बार उच्चारण करके तीन आहुतियां दें और यज्ञकर्म को सम्पन्न करें–

ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा।

अर्थ–दैनिक अग्निहोत्र के अन्त में पृ० १०१ पर देखें।

इति बृहद् यज्ञ–विधिः

पक्षेष्टि (पाक्षिक यज्ञ) विधि

[अमावस्या–पूर्णिमा के यज्ञ की विधि]

"सुवर्गाय हि वै लोकाय दर्शपूर्णमासौ इज्येते।" [तै० सं० २.२.५]

–'निश्चय ही, स्वर्ग की प्राप्ति के लिए ही अमावस्या और पूर्णिमा के यज्ञ किये जाते हैं।'

मास के पन्द्रह दिन के काल विभाग को पक्ष (या पखवाड़ा) कहते हैं। संवत्सर काल गणना-पद्धति में एक मास में दो पक्ष होते हैं–कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष। कृष्णपक्ष की पूर्णता अमावस्या के दिन होती है और शुक्लपक्ष की पूर्णिमा के दिन। प्राचीन काल में प्रति मास अमावस्या, अष्टमी और पूर्णमासी के दिन चार सार्वजनिक अवकाश होते थे। अवकाश के दिन होने के कारण इन दिनों में विशेष यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता था, अतः पक्षेष्टि के लिए कुछ विशेष आहुतियों का विधान मिलता है।

पक्षेष्टि का विधान–शास्त्रों में पक्षेष्टि करने का विधान प्राप्त होता है। महर्षि मनु इष्टि को भी ब्रह्मप्राप्ति का साधन मानते हुए कहते हैं–

इज्यया........ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।" [मनु० २.३.]

अर्थात्–'पक्षेष्टि आदि के अनुष्ठान से यह जीवन ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनता है।' ब्रह्मप्राप्ति ही मनुष्य का परम उद्देश्य है, अतः स्मृतियों में पक्षेष्टि करने का आदेश है। महर्षि मनु कहते हैं–

"अग्नि होत्रं च जुहुयात्.......दर्शेन चार्धमासान्ते
पौर्ण मासेन चैव हि।" [मनु० ४.२५]

अर्थात्–'गृहस्थ जन आधे मास अर्थात् एक पक्ष के अन्त में दर्शयज्ञ = अमावस्या यज्ञ करे। इसी प्रकार पूर्णिमा के दिन पौर्णमास यज्ञ का अनुष्ठान करे।' इसी प्रकार वानप्रस्थ के लिए भी आदेश है–

वैतानिकं च जुहुयात्, अग्निहोत्रं यथाविधि।
दर्शमस्कन्धयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः।। [मनु० ६.९]

अर्थात्—'वानप्रस्थ प्रतिदिन यथाविधि अग्निहोत्र करे और विस्तृत यज्ञों, अमावस्या तथा पूर्णिमा-यज्ञ का भी अनुष्ठान करे।'

महर्षि दयानन्द सरस्वती भी इसे आवश्यक मानते हुए लिखते हैं—"**इस प्रकार पक्षयाग अर्थात् जिसके घर में अभाग्य से अग्निहोत्र न होता हो तो सर्वत्र पक्षयागादि में.........ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण भी यथायोग्य करें**" [सं० वि० गृ हा० प्र०]। महर्षि का अभिप्राय यह है कि दैनिक अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये और साथ ही पक्षेष्टि भी करने चाहियें। यदि दैनिक अग्निहोत्र किसी विशेष परिस्थितियों के कारण न हो सके तो पाक्षिक यज्ञ तो अवश्य करना चाहिये।

पक्षेष्टि के अनुष्ठान की प्रक्रिया—

पाक्षिक यज्ञ एक विशेष अवसर पर अनुष्ठित किया जाने वाला यज्ञ है। विशेष यज्ञ होने के कारण इसमें बृहद् यज्ञ की सम्पूर्ण विधि को ग्रहण करना चाहिये। केवल अन्तर इतना ही है कि बृहद् यज्ञ में जब दैनिक अग्निहोत्र के अन्तिम आहुतिमन्त्र "**ओं अग्ने नय सुपथा०**" से आहुति दे चुकें तो उसके पश्चात् आगे दी गयी पाक्षिक यज्ञ की विशेष सात-सात आहुतियां दें। पुनः बृहद् यज्ञ की शेष विधि को सम्पन्न करें। इस प्रकार पक्षेष्टि[४३८] बृहद् यज्ञ का क्रम इस प्रकार होगा—ईश्वरस्तुति-प्रार्थना-उपासना मन्त्र, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, दैनिक अग्निहोत्र, पुनः पक्षेष्टि की आहुतियां, तत्पश्चात् द्वादश आज्याहुतियां, गायत्री मन्त्र से तीन आहुतियां, स्विष्टकृत् एवं प्राजपत्याहुति तथा पूर्णाहुतियां। पक्षेष्टि की आहुतियां निम्नलिखित हैं

---

४३८. **इष्टिः**—सामान्यतः यज्ञ का ही नाम इष्टि है, जैसा कि निघण्टु में कहा है—"**इष्टिः यज्ञनाम**" [निघ० ३.१७]। विशेषार्थ में यह किसी विशेष उपलक्ष्य में आयोजित या विशेष उद्देश्य या प्राप्ति के लिए आयोजित यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे—पुत्रेष्टि, वर्षेष्टि आदि। इष्टि शब्द दो धातुओं से सिद्ध होता है, तदनुसार ही इसका अर्थ है। '**यज-देवपूजासंगतिकरणदानेषु**' धातु से स्त्रीलिंग में क्तिन् अथवा क्तिच् प्रत्यय, अथवा, '**इषु-इच्छायाम्**' धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर 'इष्टि' पद सिद्ध होता है।

दर्शेष्टि = अमावस्या यज्ञ की विशेष आहुतियां

विधि—अमावस्या के दिन, निम्नलिखित मन्त्रों से स्थालीपाक[४३९] की तीन आहुतियां दें

ओम् अग्नये स्वाहा।।१।।
ओम् इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा।।२।।
ओं विष्णवे स्वाहा।।३।।

अर्थ—(ओम्) हे सर्वरक्षक परमात्मन! (अग्नये स्वाहा) आप दोषविनाशक, प्रकाशस्वरूप प्रभु के लिए और भौतिक अग्नि के लिए मैं यह आहुति प्रदान करता हूं।।१।।

(ओम्) हे सर्वरक्षक परमात्मन् (इन्द्र-अग्नीभ्यां स्वाहा) परमैश्वर्यशाली, प्रकाशस्वरूप आपके के लिए और भौतिक विद्युत् एवं अग्नि के लिए शुद्धचर्थ मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ।।२।।

(ओम्) हे सर्वरक्षक परमात्मन्! (विष्णवे स्वाहा) सर्वव्यापक आपके लिए और सूर्य के लिए शुद्धचर्थ मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ।।३।।

इन आहुतियों के उपरान्त निम्न चार व्याहृति-मन्त्रों से चार आहुतियां घृत की दें—

ओं भूरग्नये स्वाहा। इदमग्नये इदं न मम।।१।।
ओं भुवर्वायवे स्वाहा। इदं वायवे इदं न मम।।२।।
ओं स्वरादित्याय स्वाहा। इदं आदित्याय इदं न मम।।
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवायूवादित्येभ्यः स्वाहा।
इदमाग्निवायवादित्येभ्य इदं न मम।।४।।

अर्थ—इनका अर्थ पृष्ठ......... पर देखें।

---

४३९. **स्थालीपाक**—कर्म काण्डीय ग्रन्थों के अनुसार दूध में पकाये गये चावलों अर्थात् भात को स्थालीपाक कहते हैं [ऐ० आ० ३.२.४; शां. आ. ११.६]। साधारणतः यह पाक द्रव्य का उपलक्षण है। पकाये गये भोजन की (लवणान्न को छोड़कर) आहुति भी स्थालीपाक के अन्तर्गत दी जाती है। इस प्रकार की आहुति का प्रयोजन ईश्वर के प्रति समर्पण की भावना तथा त्यागवृत्ति की अभिवृद्धि करना है।

२. पौर्णमास–इष्टि विधि–

विधि–पूर्णिमा के दिन निम्नलिखित मन्त्रों से स्थालीपाक की तीन आहुतियां दें–

ओम् अग्नये स्वाहा।।१।।
ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा।।२।।
ओं विष्णवे स्वाहा।।३।।

अर्थ–प्रथम और तृतीय मन्त्र का अर्थ पूर्ववत् है। दूसरे का निम्न प्रकार है–(ओम्) हे सर्वरक्षक परमात्मन् ! (अग्नि-सोमाभ्यां स्वाहा) प्रकाशस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप आपके लिए और भौतिक अग्नि एवं चन्द्र के लिए शुद्ध्यर्थ मैं यह आहुति प्रदान करता हूँ।।२।।

इसके पश्चात् निम्न चार व्याहृति-मन्त्रों से चार घृत की आहुतियां दें–

ओं भूरग्नये स्वाहा। इदमग्नये इदं न मम।।१।।
ओं भुवर्वायवे स्वाहा। इदं वायवे इदं न मम।।२।।
ओं स्वरादित्याय स्वाहा। इदमादित्याय इदं न मम।।३।।
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवायवादित्येभ्यः स्वाहा। इदमग्निवाय्वादित्येभ्य इदं न मम।।४।।

इति दर्श-पूर्णमासेष्टि विधिः

पितृयज्ञ-विधि

"**ऋषयः पितरो ...... आशासते कुटुम्बिभ्यः**" [३.८०]
—'ऋषि, पितर जन गृहस्थों से सेवा-सहयोग की अपेक्षा करते हैं।"

"**अर्चयेत् ...... पितृन् श्राद्धैः**" [मनु० ३.८१]
—'पितरों को , श्रद्धाभाव से किये गये सेवा-सुश्रूषा, अन्न-भोजन-वस्त्र-औषध दान आदि कार्यों से प्रसन्न और तृप्त करें।"

पितृयज्ञ का अर्थ—

पञ्चमहायज्ञों में तीसरा यज्ञ 'पितृयज्ञ' है। पितृ शब्द का मूल अर्थ है—'पालन-पोषण तथा रक्षण करने वाला' अर्थात् पालक-पोषक और रक्षक व्यक्ति को पितर कहते हैं। क्योंकि पालन-पोषण बड़े ही छोटों का करते हैं, अतः सामान्यतः बड़ों को ही पितर माना गया है।

'पा-रक्षणे' धातु से "**नृप्तृनेष्टृत्वष्टृ** ..." **[उणा० २.९५]** सूत्र से तृच् होकर 'पिता' पद सिद्ध होता है। एक शेष समास में "**माता च पिता च इति पितरौ**" = माता-पिता मिलकर पितर कहाते हैं। निरुक्त में भी कहा है—"**पिता पाता वा पालयिता वा**" (नि० ४.२१); "पिता = **गोपिता**" [नि० ६.१५] = पालक-पोषक और रक्षक को पिता कहते हैं, वही पितर हैं। निरुक्ति के अनुसार—"**पान्ति पालयन्ति रक्षन्ति, अन्न-विद्या-सुशिक्षादिदानैः, ते पितरः**" अर्थात् जो अन्न-भोजन, वस्त्र, सुशिक्षा आदि देकर पालन-पोषण-रक्षण करते हैं, वे सब पितर कहलाते हैं। इन अर्थों के आधार पर माता-पिता, प्रपितामह-प्रपितामही (परदादा-परदादी), पितामह-पितामही (दादा-दादी), मातामह-मातामही (नाना-नानी), ताऊ-ताई, बड़े चाचा-चाची, पालक बड़े भाई-भाभी, गुरुजन, देव, ऋषि, ज्ञानी आदि विशिष्ट विद्वान पितर हैं।

पितृयज्ञ की विधि—

पितृयज्ञ अहोमात्मक किन्तु नित्यचर्या में आजीवन अनुष्ठेय यज्ञ है। ऊपर परिगणित जीवित पितरों की श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन सेवा-सुश्रूषा करना, भोजन-अन्न, वस्त्र, आवश्यक पदार्थ आदि देकर उनको तृप्त

करना एवं प्रसन्न रखना 'पितृयज्ञ' है। प्रतिदिन देवयज्ञ करने के पश्चात् पितरों = वयोवृद्धों, गुरुओं, विद्वानों को पहले भोजन देना चाहिये तथा यथासमय उनकी आवश्यकता की पूर्ति करनी चाहिये। मनुस्मृति में महर्षि मनु आदेश देते हैं—

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्।। [३.८२]

अर्थात्—'मनुष्य प्रतिदिन प्रीति = श्रद्धा प्रेमभाव रखकर पितरों के लिए अन्न-भोजन, जल, दूध, कन्दमूल, फलादि पदार्थ देकर श्राद्ध = श्रद्धा से किये जाने वाले पितृयज्ञ को करे।'

"**अर्चयेत् .... पितॄन् श्राद्धैः**" [मनु० ३.८१]

अर्थात्—'पितरों को श्रद्धाभाव से किये जाने वाले सेवा-सुश्रूषा, अन्न-जल, वस्त्र दान आदि से सत्कृत करें।' क्योंकि—

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता।। [मनु० ३.८०]

अर्थात्—'ऋषि, पितर, देव आदि जीवित व्यक्ति, पशु-पक्षी आदि प्राणी और अतिथिजन ये सभी गृहस्थ से ही अपनी सहायता-सेवा की आशा रखते हैं, अतः उनकी सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझते हुए गृहस्थ व्यक्ति को उनकी सहायता करनी चाहिये, पितृयज्ञ करना चाहिये।'

पितृयज्ञ के दो भेद—

पितृयज्ञ के दो भेद हैं, जिन्हें निम्न नामों से पुकारा जाता है-

१. श्राद्ध
२. तर्पण

यद्यपि दोनों शब्दों का एक भाव होते हुए भी सूक्ष्म अर्थ में कुछ अन्तर है। "**यत्तेभ्यः श्रद्धया क्रियते अथवा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तत् 'श्राद्धम्**" अर्थात् श्रद्धाभाव से माता-पिता आदि के लिए जो सेवा-सुश्रूषा, सहयोग अथवा उनका श्रद्धापूर्वक संग किया जाता है, वह 'श्राद्ध' कार्य कहलाता है। "**येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत् तर्पणम्**" अर्थात् जिससे अन्न-जल, भोजन-दूध,

वस्त्र-औषध आदि के दान से माता-पिता आदि को तृप्त-प्रसन्न रखा जाता है, उसको 'तर्पण' कहते हैं। इसी आधार पर पितृयज्ञ को कहीं 'श्राद्ध' तो कहीं 'तर्पण' शब्द से व्यवहृत किया जाता है।

श्राद्ध-तर्पण जीवितों का या मृतकों का?

लोगों में जहाँ अन्य विषयों में भ्रान्तियां, अन्ध-विश्वास, अज्ञान और आडम्बर पनप गये हैं, वहां पितृयज्ञ के विषय में भी प्रचलित हैं। बहुत से लोग मृत-पितरों का श्राद्ध-तर्पण करते हैं जो सर्वथा अव्यावहारिक, अवैदिक एवं शास्त्र विरुद्ध है। कितने ही ऐसे लोग हैं जो जीवित अवस्था में तो माता-पिता-पितामह आदि की सेवा नहीं करते और उनके मरने के उपरान्त सामाजिक दिखावे के लिए पिण्डदान, जिमाना आदि करते हैं। यह कोरा आडम्बर है। सच्चा श्राद्ध-तर्पण तो जीवित अवस्था में उनकी सेवा करना है।

श्राद्ध और तर्पण जीवित तथा प्रत्यक्ष व्यक्तियों का ही हो सकता है। जीवितों पर ही यह लागू होता है, मृतकों पर नहीं। सेवा-सुश्रूषा भी जीवित उपस्थित व्यक्ति की हो सकती है और भोजन-वस्त्र-जल-दूध आदि भी जीवित उपस्थित व्यक्ति को ही दिये जा सकते हैं। मृत व्यक्तियों का नाम लेकर जो उनको पदार्थ अर्पित करते हैं, कदापि उन तक नहीं पहुंच सकते। उन्हें तो पशु-पक्षी, कीट-पतंग ही खाते हैं। इस विषय में शास्त्रों के अनेक प्रमाण तो उपलब्ध होते ही हैं, कुछ व्यावहारिक तर्क भी हैं जिन्हें सामान्य समझ रखने वाला व्यक्ति भी समझ सकता है, यथा—

१. संसार में आज तक मृतपितरों को दिया गया अन्न-जल, पिण्डदान आदि किसी के पास पहुंचा है?

२. संसार में आज तक किसी के मृतपितर उनके भोजन को खाने के लिए आये हैं? मतृपितरों के लिए रखा गया वह भोज्य पदार्थ किसी पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि ने खाया है अथवा सड़-सूख गया है। यदि यह माना जाये कि उस भोजन को उनके पितर खाते हैं तो क्या भोजन रखने वाले लोग पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि को अपना पितर मानेंगे?

३. यह तो प्रत्यक्ष परीक्षा की जा सकने वाली बात है। आप व्यवहार में परीक्षा करके देख लीजिये, आज ही। आपका रखा हुआ

भोजन खाने वाले के पास एक कदम भी चलकर नहीं जायेगा, फिर किसी अज्ञात जीवन में, अज्ञात स्थान पर रहने वाले मृत पितरों के पास कैसे जा सकता है? यदि ऐसे भोजन पहुंचने लगे तो गृहणियां बिना कहीं गये, घर बैठे-बैठे ही खेत में काम करने वाले किसान को भोजन पहुंचा दें। कार्यालय में गये पतिदेव को लंच के समय भोजन पहुंचवा दें, टिफन ढोने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

४. मृत्यु के उपरान्त व्यक्ति पता नहीं कहां रहता है, कहां जन्म लेता है? जब हमें ही नहीं पता कि हमारा मृतपितर कहां है अथवा जन्म ले चुका है तो उसको क्या पता कि आपने उसके लिए भोजन बनाकर रखा है? और वह सैंकड़ों, हजारों मील से कैसे और कब आयेगा? और आज तक कभी किसी ने कोई आता देखा है?

५. लोग मृतपितरों के लिए पत्तल-दोनों में या भूमि पर पिण्डदान करते हैं या भोजन रखते हैं। यदि आप सचमुच में यह मानते हैं कि आपके मृतपितर आपका परोसा भोजन खायेंगे तो क्या आपका दिया हुआ भोजन और भोजनस्थान सत्कारपूर्ण है? क्या ऐसे स्थान पर बैठाकर ऐसा साधारण-सा भोजन कराना ही पितरों का सत्कार-सम्मान है? क्या जीवित व्यक्ति के साथ भी आप ऐसा व्यवहार करें तो आपको कैसा अनुभव होगा?

६. कुछ लोग पितृयज्ञ के अवसर पर ब्राह्मणों, पण्डितों या अन्य व्यक्तियों को जिमाते हैं, यह सोचकर कि इससे हमारे पितर प्रसन्न होंगे, उन तक भोजन पहुंचेगा। संसार में ऐसा कहीं भी, कभी भी नहीं होता कि किसी को खिलाया हुआ भोजन किसी दूसरे को प्राप्त हो जाये। यह तो केवल जीमने वालों की सेवा-तृप्ति मात्र है।

यह भी प्रत्यक्ष परीक्षा की जा सकने की बात है। यदि ऐसा हो सकता है, तो आप जो घर से बाहर जाने वाले अपने किसी प्रिय व्यक्ति को रास्ते के लिए ढेर सारा भोजन बांधकर देते हैं उसकी नितान्त आवश्यकता नहीं है। क्योंकि, जब किसी दूसरे को खिलाने से किसी दूसरे के पास भोजन पहुंच सकता है, तो आप घर में उपस्थित किसी पुत्र, पुत्री आदि को गये हुए का नाम लेकर जिमा दें, बाहर गया व्यक्ति स्वयं ही भोजन कर तृप्त हो जायेगा? और यदि ऐसा नहीं हो सकता तो किसी को जिमाने से मृतपितर भी तृप्त नहीं हो सकते। अतः आप इस भ्रान्ति और

अन्ध-परम्परा को छोड़ दीजिये।

७. भोजन सदैव शरीरांगों से खाया-पचाया जाता है। जब मृतव्यक्ति का शरीर छूट गया तो वह कैसे भोज्य पदार्थ खा-पचा सकता है? भोजन पाना शरीर का धर्म है,आत्मा का नहीं। जब शरीर ही नहीं रहा तो भोजन की आवश्यकता ही नहीं।

इस प्रकार मृतपितरों का श्राद्ध-तर्पण अज्ञान-अन्धविश्वास, आडम्बर और भ्रान्ति मात्र है। जीवित पितरों का श्राद्ध-तर्पण करना ही वास्तविक श्राद्ध-तर्पण अथवा पितृयज्ञ है।

इस विषय में शास्त्रों, स्मृतियों के भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि श्राद्ध-तर्पण में जीवित पितरों से ही अभिप्राय है, मृतकों से नहीं। नीचे वर्णित विवेचन से यह तथ्य प्रमाणित हो जायेगा। पितृयज्ञ में सेवनीय-तर्पणीय पितर तीन प्रकार के होते हैं—पितर, देव, ऋषि। इनकी परिभाषाएं एवं सप्रमाण विवेचना निम्न प्रकार है—

(१) पितर से जीवित व्यक्तियों का ग्रहण

व्युत्पत्ति के अनुसार—"**पान्ति पालयन्ति रक्षन्ति अन्न-विद्या-सुशिक्षा-आदिदानैः ते पितरः**" = जो अन्न, विद्या, सुशिक्षा आदि से पालन-पोषण और रक्षण करते हैं वे 'पितर' कहलाते हैं। ये कार्य जीवित व्यक्ति ही कर सकते हैं। इसमें ब्राह्मणों के प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

"**देवा वा एते पितरः**" [गो० उ० १.२४]
"**स्विष्टकृतो वै पितरः**" [गो० उ० १.२५]

अर्थात्—सुखसुविधाओं द्वारा पालन-पोषण करने वाले और हितसम्पादन करने वाले विद्वान् व्यक्ति 'पितर' कहलाते हैं। ये वंश अथवा परिवारसम्बन्ध से आयु में बड़े व्यक्ति और आचार्य, गुरु आदि होते हैं। शतपथ में स्पष्ट शब्दों में जीवित मनुष्यों को पितर कहा है—

'**मर्त्याः पितरः**' [श० २ । १ । ३ । ४]

मनुष्य ही 'पितर' हैं अर्थात् मृत व्यक्ति नहीं।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मृत पितरों की मान्यता मात्र कल्पना और भ्रान्ति है। माता-पिता-पितामह-आचार्य आदि ही 'पितर' कहलाते हैं।

मनुस्मृति का निम्न प्रमाण जीवित पितरों की सिद्धि में ऐसा प्रमाण है, जिससे स्पष्ट कथन अन्य नहीं हो सकता। यह गृहस्थ के सन्दर्भ में कहा गया है। इसमें कहा है कि घर का कल्याण चाहने वाले पितरों = बड़े-बुजुर्गों, पति, देवरों को चाहिये कि वे पत्नी का सम्मान-सत्कार करें—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः।। [मनु० ३.५५]

मनुस्मृति में अन्यत्र भी स्थान-स्थान पर इन्हीं व्यक्तियों को पितर कहा है। ४ . २५७ में उनके ऋण से उऋणहोने के लिए कहा है—**महर्षि-पितृ-देवानां गत्वानृण्यं यथाविधि।** यह जीवितों के साथ ही सम्भव हो सकता है। मनुस्मृति के अन्य प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

(अ) **अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।**
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्।।२।१२६।।
(आ) **पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः।।१२।४९।।**
(इ) **पितृदेवमनुष्याणां वेदचक्षुः सनातनम्।।१२।९४।।**
(ई) **दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह।।९।२८।।**
(उ) **ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।**
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता।।३।८०।।

मनु ने ४ । ३०—३१ में जीवित, धार्मिक, वेदवित् विद्वानों को ही हव्य-कव्य देने का विधान किया है। वे श्लोक मनु की इस मान्यता कोसिद्ध करते हैं कि हव्य-कव्य जीवित व्यक्तियों को ही दिये जाते हैं। यही श्राद्ध है। हव्य-कव्य आदि श्राद्ध-सम्बन्धी बातों का मृतक पितृश्राद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं।

जीवित पितरों में वेद का प्रमाण भी है—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन्।। [यजु० २।३४]

"**अर्थ**–पिता वा स्वामी अपने पौत्र, स्त्री, नौकरों को सब दिन के लिए आज्ञा देके कहे कि–(तर्पयत में पितॄन्) जो मेरे पिता, पितामह आदि, माता, मातामह आदि तथा आचार्य और इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग अवस्था अथवा ज्ञान से वृद्ध, मान्य करने योग्य हों, उन सबकी आत्माओं को यथायोग्य सेवा से प्रसन्न किया करो। सेवा करने के पदार्थ ये हैं–(ऊर्जं वहन्ती) जो उत्तम-उत्तम जल (अमृतम्) अनेन विध रस (घृतम्) घी (पयः) दूध (कीलालम्) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करने वाले उत्तम-उत्तम अन्न (परिस्रुतम्) सब प्रकार के उत्तम-उत्तम फल हैं, इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रहो (स्वधास्थ) हे पूर्वोक्त पितृलोगो! तुम सब हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से सदा सुखी रहो।" (द० ल० ग्र० सं० २४५–२५५)

पितरों की गणना और उनका अभिप्राय–

"जिनकी पितृसंज्ञा है और जो सेवा के योग्य हैं, वे निम्न हैं–

१–सोमसदः। २–अग्निष्वात्ताः। ३–बर्हिषदः। ४–सोमपाः। ५–हविर्भुजः। ६–आज्यपाः। ७–सुकालिनः। ८–यमराजाः। ९–पितृपितामहप्रपितामहाः। १०–मातृपितामहीप्रपितामह्यः। ११–सगोत्राः। १२–आचार्यादिसम्बन्धिनः।

१–सोमसदः–'सोमे ईश्वरे सोमयागे वा सीदन्ति ये सोमगुणाश्च' ते 'सोमसदः' = जो ईश्वर और सोमयज्ञ में निपुण और शान्ति आदि गुण सहित हैं, वे 'सोमसद्' कहाते हैं।

२–अग्निष्वात्ताः–'अग्निरीश्वरः सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात् पृथिवी = जल-व्योम-यान-यन्त्ररचनादिका पदार्थविद्या सुष्ठुतया आत्ता गृहीत्ता यैः' ते 'अग्निष्वात्ताः' = अग्नि जो परमेश्वर वा भौतिक अग्नि, उनके गुणज्ञात करके जिन्होंने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है, उनको 'अग्निष्वात्त' कहते हैं।

३–बर्हिषदः–'बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि शम-दमादिषूत्तमेषु गुणेषु वा सीदन्ति' ते 'बर्हिषदः' = जो सबसे उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम, दम, सत्य, विद्या आदि गुणों में वर्तमान हैं, उनको 'बर्हिषद्' कहते हैं।

४—हविर्भुजः—'हविर्हुतमेव यज्ञेन 'शोधितवृष्टिजलादिकं भोक्तुं भोजयितुं वा 'शीलमेषां' ते हविर्भुजः' = जो अग्निहोत्र आदि यज्ञ करके वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा सब जगत् का उपकार करते और जो यज्ञ से अन्नजलादि की शुद्धि करके खाने पीने वाले हैं, उनको 'हविर्भुज्' कहते हैं।

६—आज्यपाः—'आज्यं घृतम्, यद्वा 'अज् गतिक्षेपणयोः' धात्वर्थात् आज्यं विज्ञानम्, तद्दानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति रक्षयन्ति ये विद्वांसः' ते 'आज्यपाः' = घृत, स्निग्धपदार्थ और विज्ञान को कहते हैं। जो उनके दान से रक्षा करने वाले हैं, उसको 'आज्यप' कहते हैं।

७—सुकालिनः—'ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च 'शोभनः कालो येषां ते। यदा ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूपः सदैव कालो येषां' ते 'सुकालिनः' = मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय और जो सदा उपदेश में ही वर्तमान हैं, उनको 'सुकालिन्' कहते हैं।

८—यमराजाः—'ये पक्षपातं विहाय न्यायव्यवस्थाकर्त्तारः सन्ति' ते 'यमराजाः' = जो पक्षपात को छोड़कर सदा सत्य न्यायव्यवस्था ही करने में रहते हैं, उनको 'यमराज' कहते हैं।

९—पितृ-पितामह-प्रपितामहाः—'(पितृ) ये सुष्ठुतया श्रेष्ठान् विदुषोगुणान् वासयन्तः तत्र वसन्तश्च, विज्ञानादि अनन्तधनाः स्वान् जनान् धारयन्तः पोषयन्तश्च, चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्याभ्यासकारिणः स्वे जनकाश्च सन्ति, ते पितरः 'वसवः' विज्ञेया ईश्वरोऽपि' = जो वीर्य के निषेकादि कर्मों को करके उत्पत्ति और पालन करे और चौबीस वर्ष पर्यन्तेन ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या को पढ़े, उसका नाम 'पिता' अथवा 'वसु' है। (पितामह) **'ये पक्षपातरहिता दुष्टान् रोदयन्तः चतुश्चत्वारिंशत् वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्यसेवनेन कृतविद्याभ्यासाः ते 'रुद्राः' स्वे पितामहाश्च ग्राह्याः तथा रुद्र ईश्वरोऽपि'** = जो पिता का पिता हो और चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास कर पक्षपातरहित होकर दुष्टों को रुलाने वाला है, उसका नाम 'पितामह' और 'रुद्र' है। (प्रपितामह) **'आदित्यवत् उत्तमगुण प्रकाशका' विद्वांसोऽ चत्वारिंष्टचत्वारिंशत् वर्षेण ब्रह्मचर्येण**

सर्वविद्यासम्पन्नाः सूर्यवत् विद्याप्रकाशकाः त आदित्याः स्वे प्रपितामहाश्च ग्राह्याः तथा आदित्यो ऽविनाशीश्वरो वात्र गृह्यते' = जो पितामह का पिता और आदित्य के समान उत्तम गुणों का प्रकाशक अड़तालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या पढ़ के सब जगत् का उपकार करता हो, उसको 'प्रपितामह' अथवा 'आदित्य' कहते हैं। तथा जो पित्रादिकों के तुल्य पुरुष हैं उनकी भी पित्रादिकों के तुल्य सेवा करनी चाहिये।

१०—मातृ-पितामही-प्रपितामह्यः—'पित्रादिसदृश्यो मात्रादयः सेव्याः = पित्रादिकों के समान विद्या स्वभाव वाली स्त्रियों की भी अत्यन्त सेवा करनी चाहिये। माता, दादी, परदादी आदि।

११—सगोत्राः—'स्वसमीपं पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीयाः' = जो समीपवर्ती जाति के पुरुष हैं, वे भी सेवा करने के योग्य हैं।

१२—आचार्यादिसम्बन्धिनः—'ये गुर्वादिसख्यन्ताः सन्ति ते हि सर्वदा सेवनीयाः'—जो पूर्ण विद्या के पढ़ाने वाले और श्वसुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्री हैं, उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए''। (द० ल० ग्रं० २४५—२५५)

इस प्रकार उपर्युक्त गुण वाले जीवित व्यक्तियों को ही 'पितर' कहा जाता है, उनकी सेवा करनी ही पितृयज्ञ है। मृतपितरों की कल्पना भ्रान्ति एवं अज्ञानता है।

(२) 'देव से अभिप्राय'

''**दिवु** = क्रीड़ा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु' (दिवादि) धातु से '**पचाद्यच्**' से 'अच्' प्रत्यय अथवा 'दिवु-मर्दने' (चुरादि) या 'दिवुपरिकूजने' (चुरादि) धातु से 'अच्' प्रत्यय के योग से 'देव' शब्द निष्पन्न होता है। देव जड़ और चेतन दो प्रकार के होते हैं इस श्लोक में देव शब्द से चेतन देव अभीष्ट हैं। शतपथ में आता है—

(अ) ''द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति' तन्मनुष्येभ्य देवानुपैति। (शतपथ १।१।१।४—५)

"दो लक्षणों से मनुष्यों की दो संज्ञाएं होती हैं अर्थात् देव और मनुष्य। वहां सत्य और झूठ दो कारण हैं। जो सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य कर्म करने वाले हैं वे 'देव' और वैसे ही झूठ मानने और झूठ कर्म करने वाले 'मनुष्य' कहाते हैं। जो झूठ से अलग होके सत्य को प्राप्त होवें वे देवजाति में गिने जाते हैं।" (द० ल० ग्र० सं० २४५–२५५)

(आ) विद्वांसो हि देवाः (शत० ३ । ७ । ६ । १०)

(इ) ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते, मनुष्यदेवाः।। (शत० २।४।३।१४।।)

(ई) सत्यसंहिता वै देवाः (ऐ० ब्रा०१।१६)

अर्थात् विद्वान् मनुष्यों को देव कहते हैं। निरुक्त में देव शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है–"**देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्यो तनाद्वा, द्यु स्थानो भवतीति वा। यो देवः स देवता**" [निरु० ७।१५] अर्थात् दान देने से, दीप्त होने से, प्रकाशित करने से, द्यु स्थानीय होने से 'देव' कहाते हैं। देव को ही देवता कहा जाता है। इस प्रकार विद्याओं से प्रकाशित और विद्याओं का दान देने वाले, दिव्यगुण एवं उत्तम आचरण करने वाले विद्वानों को 'देव' कहा जाता है। आचार्य, गुरु आदि इनके अन्तर्गत आते हैं। मनुस्मृति में भी ऐसे ही विद्वानों को देव कहा है। निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं–

(उ) ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्।। २।१२७।।

(ऊ) न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः।।
२।१३१।।

(३) ऋषि से अभिप्राय–

'ऋषी गतौ' धातु से **'इन्'** प्रत्यय और **'इगुपधात् कित्'** के योग से 'ऋषि' शब्द की सिद्धि होती है। गति के ज्ञान, गमन और प्राप्ति, ये तीन अर्थ हैं। ऋषि सबसे उच्च-स्तर का विद्वान् व्यक्ति होता है। वेदमन्त्रों के अर्थों का द्रष्टा, धर्म और ईश्वर का साक्षात्कार करने वाला आप्तपुरुष ऋषि कहलाता है। वेद, वेदार्थों और विद्याओं के गूढ़ ज्ञान को प्रत्यक्ष कराने की योग्यता उसमें होती है। वही धर्मोपदेष्टा होता है।

(क) निरुक्तकार ने ऋषि की निरुक्ति की है—**ऋषिः दर्शनात्। स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यवः।**" [निरु० २ । ११] अर्थात् ऋषि वेदार्थों और विद्याओं के रहस्यों को प्रत्यक्ष करने-कराने वाला होता है। औपमन्यव आचार्य का मत है कि मन्त्रद्रष्टा होने से ऋषि होता है। इसी प्रकार '**साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयोः बभूवुः।**" अर्थात् ऋषि धर्म और ईश्वर के साक्षात्कर्त्ता होते हैं। [निरु० १ । २०]।

(ख) ब्राह्मणों में भी ऋषि की यही विशेषताएं वर्णित की हैं—

(अ) "यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः।" (श० ४।३।४।१९)

(आ) "एते वै विप्रा यदृषयः।" (श० १।४।२।७)

महर्षि मनु ने भी ऋषिचर्चा के प्रसंग में इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(इ) न हायनैर्नपलितैः न वित्तेन न च बन्धुभिः।
ऋषयश्चकिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्।। २।१२९।।

(ई) ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च।। ४।९४।।

(उ) आर्षं धर्मोपदेशम् च।। १२ । १०६।।

(ऊ) "अथ यदेवानुब्रवीत। तेनर्षिभ्य ऋणं जायते, तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः।।"
(शत० १।७।५।३)

"अथार्षेयं प्रवृणीते। ऋषिभ्यश्चैवेनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्यं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते।। (शत० १।४।५।३)

"**अर्थ**—सब विद्याओं को पढ़के जो पढ़ाना है 'ऋषिकर्म' कहाता है, उसे पढ़ने और पढ़ाने से ऋषियों का ऋण अर्थात् उनको उत्तम-उत्तम पदार्थ देने से निवृत्त होता है और इन ऋषियों की सेवा करता है, वह उनको सुख करने वाला होता है। यही व्यवहार अर्थात् विद्याकोश की रक्षा करने वाला होता है। जो सब विद्याओं को जानके सबको पढ़ाता है; उसको 'ऋषि' कहते हैं।

जो पढ़के, पढ़ाने के लिये विद्यार्थी का स्वीकार करना है, सो आर्षेय

अर्थात् ऋषियों का कर्म कहाता है। जो उस कर्म को करता हुआ उन ऋषियों और देवों के लिए प्रसन्न करने वाले पदार्थों का निवेदन तथा सेवा करता है, वह विद्वान् अति पराक्रमी होके विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। जो विद्वान् और विद्या को ग्रहण करने वाला है उसका 'ऋषि' नाम होता है।" (द० ल० ग्र० सं० २४५–२५५)

इस प्रमाणयुक्त विस्तृत विवेचन से यह सिद्ध हो गया है कि पितर, ऋषि, देव जीवित मनुष्यों के स्तरविशेष पर आधारित या विशेष गुणों के आधार पर रखी गई संज्ञाएं हैं। संक्षेप में विद्या के प्रत्यक्षदर्शन के प्रमुख गुण वाले 'ऋषि', आचरण में दिव्य-गुणों की प्रधानता के गुण वाले विद्वान् 'देव' और पालक गुण वाले वयोवृद्ध विद्वान् या वंश सम्बन्ध से माता-पिता, पितामही-पितामह आदि 'पितर' हैं।

इति पितृयज्ञ विधिः

बलिवैश्वदेवयज्ञ-विधि

"अर्चयेद्.....भूतानि बलि कर्मणा" [मनु० ३.८१]

—'बलिवैश्वदेव यज्ञ में भोजन से बलिभाग निकालकर प्राणियों को प्रसन्न करना चाहिये।'

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते।। [मनु० ३.११८]

—'जो व्यक्ति अपने लिए भोजन पकाकर अपना ही पेट भरता है, वह केवल पाप ही खाता है। यज्ञों की विधि सम्पन्न करने के पश्चात् शेष भोजन ही श्रेष्ठों का भोजन कहलाता है। श्रेष्ठ व्यक्ति को वही भोजन करना चाहिए।'

पांच महायज्ञों में चौथा बलिवैश्वदेव यज्ञ है। इसका अन्य नाम भूतयज्ञ भी है। यह बलि+विश्वदेव पदों का समस्त रूप है। बलि शब्द 'बल-दाने' धातु से **सर्वधातुभ्य इन्"** [उणा० ४.११८] सूत्र से इन् प्रत्यय होकर सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है—'किसी मुख्य पदार्थ में से देने के लिए पृथक् निकाला गया भाग।' यदि 'बल-संवरणे संचरणे च' धातु से इस शब्द को सिद्ध करें तो उसका भी अर्थ 'पृथक् किया गया एक भाग' ही होता है किन्तु वह कर (= टैक्स) अर्थ का द्योतक होता है जो कि राज्याधिकारियों द्वारा एकत्रित किया जाता है। मनुस्मृति में इसका प्रयोग द्रष्टव्य है—

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम्।। [मनु० ७.८०]

अर्थात्—'ईमानदार अधिकारियों द्वारा राजा प्रतिवर्ष राष्ट्र से बलिभाग = कर (टैक्स) को इकट्ठा कराये।' अन्न के छठे भाग को 'बलि' कहते हैं जो टैक्स के रूप में राजकोष में दिया जाता है। दानार्थक धातु से इसका अर्थ होगा—**बल्यते दीयते इति बलिः"** = भोजन का जो भाग प्राणियों के लिए पृथक् निकाला जाता है, वह 'बलि' कहलाता है।

वैश्वदेव शब्द विश्व+देव पदों के समास से बना है, जिसकी व्युत्पत्ति है—**"विश्वेषां देवानां दिव्यानां प्राणिनां पदार्थानां वा यः सम्बन्धी" अथवा 'विश्वेभ्यः प्राणिभ्य इदम्।"** इस प्रकार बलिवैश्वदेव

का अर्थ हुआ 'वह यज्ञ जिसमें विभिन्न प्राणियों के लिए बलिभाग निकाला जाता है।' यह भाग उन पर स्नेह दया, उपकार, सहयोग एवं मित्रता की भावना से निकाला जाता है। साथ ही यह कामना की जाती है कि सब जीव हमारे मित्र हों और हम सब जीवों के मित्र रहें तथा हम कभी किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचायें, उनसे अन्याय न करें।

बलिवैश्वदेव का विधान

मनुस्मृति आदि शास्त्रों में बलिवैश्वदेव यज्ञ का विधान मिलता है। मनुस्मृति में कहा है–

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ।। [मनु० ३.८४]

अर्थात्–'द्विज व्यक्ति पाकशाला की अग्नि में विधिपूर्वक तैयार किये गये बलिवैश्वदेव यज्ञ के भाग वाले भोजन से प्रतिदिन आहुति दे और प्राणियों के लिए बलिभाग रखे।'

बलिवैश्वदेव की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। आज साधारण समाज में भी उसके अवशेष विभिन्न रूपों में दिखाई देते हैं। अनेक परिवारों में यह परम्परा है कि वे भोजन बनाते समय सबसे पहली एक रोटी गाय के लिए गोग्रास के रूप में बनाकर रख देते हैं,कहीं आटे का अधपका पेड़ा-सा बनाते हैं जो गाय आदि पशुओं को खिलाया जाता है। कौवे, कुत्ते आदि को रोटी डालना, पक्षियों के लिए अन्न-जल रखना, दाने डालना, चींटियों के बिलों पर आटा डालना, ये सभी परम्पराएं बलिवैश्वदेव के अवशिष्ट रूपान्तर ही हैं। आज भी भारतीय समाज में भूखों को भोजन खिलाने तथा भिखारियों को भीख देने की परम्परा है। यह बलिवैश्वदेव यज्ञ की भावना के कारण ही है।

बलिवैश्वदेवयज्ञ की विधि–

१. पाकाग्नि में दश आहुतियां

सर्वप्रथम, पाकशाला में तैयार भोजन में से क्षार और लवणयुक्त (= खट्टे-नमकीन) भोजन को छोड़कर, पाकाग्नि में अर्थात् चूल्हे से कुछ अग्नि पृथक् निकाल कर, निम्न मन्त्रों का अर्थविचारपूर्वक उच्चारण करते हुए दश आहुतियां देवें–

ओम् अग्नये स्वाहा।।१।।
ओं सोमाय स्वाहा।।२।।
ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा।।३।।
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा।।४।।
ओं धन्वन्तरये स्वाहा।।५।।
ओं कुह्वै स्वाहा।।६।।
ओं अनुमत्यै स्वाहा।।७।।
ओं प्रजापतये स्वाहा।।८।।
ओं द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा।।९।।
ओं स्विष्टकृते स्वाहा।।१०।।

अर्थ–(ओम्) सर्वरक्षक (अग्नये[४४०]) ज्ञान प्रकाशस्वरूप, दोष-दुर्गुण विनाशक परमात्मा को स्मरण करते हुए (स्वाहा) मैं यह आहुति अर्पित करता हूँ।।१।।

(सोमाय स्वाहा) सब पदार्थों को उत्पन्न एवं पुष्ट करने वाले सुखप्रदाता ईश्वर को स्मरण करते हुए मैं यह आहुति अर्पित करता हूँ।।२।।

(अग्नि + सोमाभ्यां स्वाहा) अग्नि और सोम गुणों के एकत्र भण्डार रूप परमात्मा को स्मरण करते हुए मैं यह आहुति देता हूँ।।३।।

(विश्वेभ्यः देवेभ्यः) परमात्मा के समस्त दिव्य गुणों को स्मरण करते हुए........।।४।।

(धन्वन्तरये)[४४१] जन्म-मरण से मुक्ति दिलाने वाले, रोगों से छुटकारा दिलाने वाले परमात्मा को स्मरण करते हुए....।।५।।

४४०. अग्नि, सोम आदि पदों पर टिप्पणियां गत पृष्ठों में द्रष्टव्य हैं। इच्छित पद के लिए अनुक्रमणिका देखी जा सकती है।

४४१. **धन्वन्तरि**–"**धनुः + चिकित्साशास्त्रम् उच्यते, तस्यान्तमृच्छति प्राप्नोति सः पारंगतः धन्वन्तरिः, रोगनाशकः परमात्मा, विद्वान् वा। धनु + अन्त + ऋगतौ** धातु से इन् प्रत्यय। **धन्वन् रोगः कष्टंवा, तृ-संतरणे** धातु से इः प्रत्यय। रोग या कष्ट से जो पार उतारता है, वह धन्वन्तरि है–परमात्मा और वैद्य।

(कुहवै)[४४२] विस्मयकारी शक्ति सम्पन्न परमात्मा को स्मरण करते हुए....... ।।६।।

(अनुमत्यै)[४४३] अद्भुत चितिशक्ति सम्पन्न परमात्मा को स्मरण करते हुए....... ।।७।।

(प्रजापतये) प्रजा पालक, सबके स्वामी परमात्मा को स्मरण करते हुए....... ।।८।।

(सह द्यावापृथिवीभ्याम्) द्युलोक= ऊर्ध्व दिशा के पृथिवी= नीचे की दिशा के समस्त लोकों को रचकर उनमें व्याप्त रहने वाले परमात्मा को स्मरण बरते हुए...... ।।९।।

(स्विष्टकृते)[४४४] इष्ट सुख को भलीभांति प्राप्त कराने वाले परमात्मा को स्मरण करते हुए मैं यह आहुति देता हूँ।।१०।।

२. सोलह बलिभाग देने के मन्त्र–

उपर्युक्त दस मन्त्रों से आहुति देने के उपरान्त निम्नलिखित मन्त्रों का अर्थ विचारपूर्वक उच्चारण करने के पश्चात् निर्धारित स्थान पर बलिभाग रखें। जैसा कि महर्षि मनु ने कहा है–

एवं सभ्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ।। [मनु० ३.८७]

अर्थ–'इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों से भलीभांति पाकाग्नि में आहुति देने के पश्चात् सब दिशाओं में प्रदक्षिणा क्रम से निम्नलिखित मन्त्रों से बलिभाग रखें।' बलि रखने के मन्त्र ये हैं–

ओं सानुगायेन्द्राय नमः। [इससे पूर्व।]
ओं सानुगाय यमाय नमः। [इससे दक्षिण]
ओं सानुगाय वरुणाय नमः। [इससे पश्चिम]
ओं सानुगाय सोमाय नमः। [इससे उत्तर]

---

४४२. **कुहू–'कुह-विस्मापने'** धातु से 'ऊः' प्रत्यय।

४४३. **अनुमतिः–अनु+ 'मन-ज्ञाने'** धातु से क्तिन् प्रत्यय। **"अनुमतिः= अनुमननात्"** [नि० ११.३०]।

४४४. **स्विष्टकृत्**–द्र० टिप्पणी संख्या....४३६

ओं मरुद्भ्यो नमः। [इससे द्वार]
ओमद्भ्यो नमः। [इससे जल]
ओं वनस्पतिभ्यो नमः। [इससे मूसल और ऊखल]
ओं श्रियै नमः। [इससे ईशान]
ओं भद्रकाल्यै नमः। [इससे नैर्ऋत्व]
ओं ब्रह्मपतये नमः। [इससे मध्य]
ओं वास्तुपतये नमः। [इससे मध्य]
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः। [इससे ऊपर]
ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः। ["]
ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः। ["]
ओं सर्वात्मभूतये नमः। [इससे पृष्ठ]
ओं पितृभ्यः स्वाधायिभ्यः स्वधा नमः: [इससे दक्षिण]

अर्थ–(ओम्) सर्वरक्षक (सानुगाय + इन्द्राय[४४५] नमः) सर्वैश्वर्ययुक्त परमेश्वर एवं उसके गुणों को स्मरण करते हुए मैं यह बलिभाग प्राणियों की प्रसन्नता एवं पुष्टि के लिए रखता हूँ।।१।।

(सानुगाय यमाय) सत्य न्यायकर्त्ता परमेश्वर तथा उसके न्याय का अनुसरण करने वाले विद्वान् सभासदों, न्यायाधीशों को स्मरण करते हुए मैं........।।२।।

(सानुगाय वरुणाय) सबके द्वारा वरणीय, सबसे उत्तम परमात्मा एवं उसके धार्मिक, अनुकरणीय चरित्र वाले भक्तजनों को स्मरण करते हुए मैं......।।३।।

(सानुगाय सोमाय) पुण्यात्माओं को आनन्द देने परमात्मा तथा पुण्यात्मा जनों का स्मरण करते हुए मैं.....।।४।।

(मरुद्भ्यः) प्राणरक्षक परमात्मा का स्मरण करते हुए मैं......।।५।।

---

४४५. इन्द्र आदि पदों पर गत पृष्ठों में टिप्पणियां द्रष्टव्य हैं। इच्छित शब्द के लिए अनुक्रमणिका में शब्द और टिप्पणी देखी जा सकती है।

(अद्भ्यः) सर्वत्र व्याप्त परमात्मा का स्मरण करते हुए मैं..... ।।६।।

(वनस्पतिभ्यः) परमात्मप्रदत्त वनस्पति आदि उपकारक पदार्थों की रक्षा की भावना से मैं..... ।।७।।

(श्रियै)[४४६] सेवा योग्य परमात्मा को स्मरण करते हुए तथा सम्पत्ति-समृद्धि, पवित्रता-शोभा आदि गुणों की प्राप्ति की भावना से मैं...... ।।८।।

(भद्रकाल्यै)[४४७] कल्याण करने वाली परमात्मा की शक्ति का आश्रय प्राप्त करने की भावना से मैं....... ।।९।।

(ब्रह्मपतये) वेदशास्त्र के दाता एवं रक्षक परमात्मा का स्मरण करते हुए मैं...... ।।१०।।

(वास्तुपतये)[४४८] गृहों तथा गृहसम्बन्धी पदार्थों के स्वामी एवं रक्षक परमात्मा को स्मरण करते हुए...... ।।११।।

(विश्वेभ्यः देवेभ्यः) समस्त परमात्मा प्रदत्त दिव्यशक्तियों तथा विद्वानों का स्मरण करते हुए मैं..... ।।१२।।

(दिवाचरेभ्यः भूतेभ्यः) दिन में विचरण करने वाले प्राणियों की प्रसन्नता के लिए मैं..... ।।१३।।

(नक्तंचारिभ्यः भूतेभ्यः) रात्रि में विचरण करने वाले प्राणियों की प्रसन्नता के लिए मैं...... ।।१४।।

(सर्वात्मभूतये)[४४९] सब प्राणियों एवं पदार्थों में व्याप्त सत्ता रूप

---

४४६. **श्रीः–"श्रीयते सेव्यते सर्वैः जनैः सा "श्रीः" = ईश्वरः, सर्वसुखशोभावत्त्वात्। यद्वा ईश्वरेणोत्पादिता विश्वशोभा वा।"** [ऋ०भा०भू०पंच०]

४४७. **भद्रकाली–"या भद्रं कल्याणं कलयति सा भद्रकालीरीश्वरशक्तिः"** [ऋ०भा०भू०पंच०]

४४८. **वास्तुपतिः–वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिन् तद् वास्तु गृहम्, आकाशं वा। तस्य पतिः = पालकः, रक्षकः परमेश्वरः।**

४४९. **सर्वात्मभूतिः–"सर्वेषां जीवात्मनां भूतिः भवनं सतेश्वरोऽत्र ग्राह्यः।"** [ऋ०भा०भू०पंच०]।

परमात्मा का स्मरण करते हुए मैं......।।१५।।

(पितृभ्यः स्वधायिभ्यः)[४५०] माता-पिता आदि सुख देने वाले पितरों को सेवा-सुश्रुषा से सुख देने तथा अन्नादि से तृप्त करने की भावना से मैं यह बलिभाग प्रदान करता हूँ।।१६।।

३. बलि के छह भाग निकालना

उपर्युक्त सोलह मन्त्रों से बलिभाग पृथक् कर यथास्थान रखने के पश्चात् निम्नलिखित छह भाग किसी थाली अथवा पत्तल में निकालकर पृथक्-पृथक् रख दें और जिस-जिस का जो भाग है वह उसको दे दें—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि।। [मनु० ३.९२]

अर्थ—'कुत्ते, दीन-हीन, चांडाल आदि, गलितकुष्ठ आदि के रोगी जो पकाने-खाने में असमर्थ हों, कौवे, कृमि-कीट इनका भाग श्रद्धापूर्वक पृथक् निकालकर रखें और उन्हें दे दें।'

४. बलिवैश्वदेव के उपरान्त कर्त्तव्य कर्म

कृत्वैतद् बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत्।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद् ब्रह्मचारिणे।। [मनु० ३.९४]

अर्थ—'उपर्युक्त बलिवैश्वदेव की विधियां सम्पन्न करके पहले अतिथि को भोजन खिलायें और भिक्षा के लिए आये ब्रह्मचारी आदि को भिक्षा देवे।'

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत्।। [मनु० ३.१०८]

अर्थ—वैश्वदेव यज्ञ के सम्पन्न हो जाने के पश्चात् अर्थात् भोजन तैयार होने और पाकाग्नि में उसकी आहुतियां देने के पश्चात् भी यदि

---

४५०. **स्वधा—सु+ 'डुधाञ्—धारणपोषणयोः'** धातु से क्विप् प्रत्यय। अथवा, **'ष्वद-आस्वादने'** धातु से औणादिक आः प्रत्यय, धातु से द को ध। **''स्वधा-अन्ननाम, उदकनाम''** [निघ० २.७; १.१२]। **''स्वधा= अमृतरूपया सेवया''** [ऋ०भा०भू०पंच०], **''स्वधा= स्वान् दधाति या सा क्रिया, स्वेन धारिता सेवा वा''** [ऋ०दया०भा०यजु० १९.३६]।

कोई अतिथि आ जाये तो यथाशक्ति उसको भी भोजन करायें। दोबारा बलिभाग न निकालें।

इस प्रकार अतिथियों, माता-पिता आदि पितरों, घर में आये सपरिवार मित्रों, विद्वानों, अपने मृत्यों को पहले भोजन खिलाकर तत्पश्चात् गृहस्थ दम्पती भोजन करें। नवविवाहिताओं, अल्पवय बालक-बालिकाओं, गर्भिणी तथा रोगिणी स्त्रियों को अतिथियों से पूर्व ही भोजन करायें [मनु० ३.११४]। पञ्चमहायज्ञों के सम्पन्न करने के पश्चात् शेष भोजन को गृहस्थ दम्पती ग्रहण करें। यही भोजन यज्ञशेष भोजन कहलाता है, इसी को 'अमृतभोजन' कहते हैं। यही सज्जनों का भोजन है। [मनु० ३:११६-११८, २८५]

बलि-प्रदान में भ्रान्ति

बहुत से लोग खाने के बाद बचे भोजन को पशु-पक्षियों, कीट पतंगों अथवा भिखारियों को देकर बलिवैश्वदेव यज्ञ की सम्पन्नता मान लेते हैं। ऐसा करना विधि-विरुद्ध तथा बलिवैश्वदेव यज्ञ की पवित्र भावना के विपरीत है। जैसा कि उपर्युक्त विधान में दर्शाया गया है, भोजन ग्रहण करने से पूर्व बलिभाग निकालना ही बलिवैश्वदेव यज्ञ है। इसी में यज्ञीय त्याग, दया, उपकार, मैत्री तथा प्राणिप्रसन्नता की उच्च भावना एवं आदर्श निहित है। बचा-खुचा भोजन देना यज्ञीय विधि एवं भावना के अन्तर्गत नहीं आ सकता।

बलि के अर्थ में विकृति–

उपर्युक्त विवेचन में बलि शब्द का व्याकरणानुसारी विवेचन करके 'किसी पदार्थ का एक भाग जो प्रदान किया जाता है' यह अर्थ प्रदर्शित किया गया है। मध्यकाल में आकर जहां समाज में बहुत–सी परम्पराएं विकृत हो गयीं, साथ ही स्वार्थी एवं विकृत प्रवृत्ति के लोगों ने कर्मकाण्डीय शास्त्रीय परम्पराओं को भी विकृत कर दिया। वे लोग बलिभाग निकालने के स्थान पर पशु-पक्षियों की बलि देने लगे। ऐसा करना यज्ञीय भावना के विपरीत है, अपितु यह राक्षसी कार्य है। उन्होंने निजी मांसाहार भक्षण की वृत्ति को संतुष्ट करने के लिए यज्ञों को बदनाम कर दिया और शास्त्रों में प्रक्षेप डाल दिये। यज्ञों में किसी भी

प्रकार की हिंसा नहीं होनी चाहिये। हिंसा अधर्म है, अहिंसा धर्म है। हिंसा अधम कार्य है, अहिंसा उत्तम कार्य। यज्ञ एक श्रेष्ठतम कर्म है–**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**"[शत० १.७.१.५] अतः उसमें कोई भी अधम कार्य नहीं होना चाहिये। मनु के अनुसार तो अनजाने में होने वाली क्षुद्र पापियों की हिंसा की निवृत्ति के लिए भी प्रायश्चित्तस्वरूप पञ्चमहायज्ञ किये जाते हैं [मनु० ३.६८.६९]। **ऐसी स्थिति में हिंसा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।**

यज्ञ का नाम 'अध्वर' है, जिसका अर्थ है, वह अनुष्ठान जिसमें किसी प्रकार की हिंसा न हो। इसमें निरुक्त का प्रमाण उल्लेखनीय है–

"अध्वर इति यज्ञ नाम। ध्वरति हिंसाकर्मा,
तत्प्रतिषेधः।" [निरु० १.७; ३.१७]

अर्थात्–'अध्वर' यज्ञ का नाम है। ध्वर धातु हिंसार्थक है, जिसमें हिंसा का निषेध हो उसे अध्वर कहते हैं।

इस विषय में ऋग्वेद का अत्यन्त स्पष्ट आदेश मुहुर्मुहुः विचारणीय है–

"ऊर्जादः उत यज्ञियासः पञ्चजनाः ममहोत्रं जुषध्वम्"
[ऋ० १०.५३.४]

अर्थात्–'ऊर्ज' अन्न को कहते हैं [निरु० ३.२]। **अन्नाहारी (मांसाहारी नहीं) और यज्ञीय श्रेष्ठ-पवित्र भावना वाले पांचों वर्गों–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद, यज्ञ सम्पादन करें।'**

इतने स्पष्ट आदेश होते हुए भी जो लोग यज्ञ में हिंसा करते हैं अथवा उसका समर्थन करते हैं, वे शास्त्र विरोधी, स्वार्थी, मिथ्याचारी तथा राक्षसी प्रवृत्ति के लोग हैं, जो केवल स्वार्थलिप्सा के लिए ही यज्ञ हिंसा का समर्थन करते हैं। वे अपनी राक्षसी वृत्तियों को पूर्ण करने के लिए यज्ञ की आड़ लेते हैं।

बलि देने का वास्तविक अर्थ 'भोजन से बलिभाग निकाल कर देना' है, पशुवध करना नहीं, अतः बलिवैश्वदेव अथवा किसी भी यज्ञ में किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं करनी चाहिये।

अतिथियज्ञ–विधि

''अतिथि देवो भव'' [तै० उ० १.११.२]
अतिथि को देव मानो और उसका सत्कार करो।
''धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं चातिथिपूजनम्'' [मनु० ३.१०६]
–अतिथि-सत्कार करना सौभाग्य, यश, दीर्घायु और सुख को देने वाला होता है।

पांच महायज्ञों में पांचवां यज्ञ अतिथि यज्ञ है। इसको 'नृयज्ञ' भी कहते हैं। यह अहोमात्मक किन्तु गृहस्थ व वनस्थ के लिए नित्यचर्या में आजीवन अनुष्ठेय यज्ञ है।

अतिथि की परिभाषा–

व्याकरण के अनुसार 'अत-सातत्यगमने' धातु से 'इथिन्' प्रत्यय के योग से 'अतिथि' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है–सदैव भ्रमणशील, परिव्राजक अथवा यात्री व्यक्ति। तिथि शब्द से नञ् सामास के योग से भी अतिथि शब्द की रचना की जाती है–न+तिथि= अतिथि। इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसकी परिभाषा होगी–**''न विद्यते नियता तिथिर्यस्य''**, **''अविद्यमाना तिथिर्यस्य''** अर्थात् जिसके आने की तिथि निश्चित न हो, जो आकस्मिक रूप से घर आ जाये, उसे 'अतिथि' कहते हैं। इनके साथ-साथ नियत तिथि में अथवा विशेष उपलक्ष्य में आये व्यक्तियों को भी अतिथि माना गया है। निरुक्त में कहा है–**अतिथिरभ्यतितो गृहान् भवति। अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा, गृहाणीति वा।**''[नि० ४.५] = घर में पधारने वाले को अतिथि कहते हैं। जो नियत तिथि में अथवा नियत उपलक्ष्य में किसी दूसरे के घर में पहुंचता है। **''अतति गतिकर्मा''** [निघ० २.१४] = अत धातु गत्यर्थक है, जो किसी के घर में जाता है, अथवा भ्रमणशील, परिव्राजक यात्री है।

महर्षि मनु ने अतिथि की परिभाषा करते हुए अस्थायी निवास को अतिथि शब्द का आधार माना है और विद्वान् को ही अतिथि स्वीकार किया है–

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ।। [मनु० ३.१०२]

अर्थात्—जो विद्वान् व्यक्ति एक रात्रि दूसरे के घर आश्रय ले उसे अतिथि कहा जाता है। क्योंकि उसकी स्थिति (निवास) अस्थायी होती है, अतः उसे 'अतिथि' की संज्ञा से पुकारा जाता है।

प्रत्येक घर पहुँचने वाला व्यक्ति अतिथि नहीं कहलाता, न सभी अतिथिवत् सत्करणीय हैं। केवल उत्तम स्वभाव के सद्गुणी व्यक्ति ही 'अतिथि' कहलाते हैं, और वही अतिथि के रूप में सत्करणीय हैं। दुष्ट स्वभाव के दुर्गुणी व्यक्ति तिरस्करणीय हैं। शास्त्रों में कहा है—

"यः श्रेष्ठतामश्नुते स वा अतिथिः भवति" [ऐ० आ० १.१.१]

—जो श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव का व्यक्ति है, वही अतिथि कहलाता है। महर्षि मनु भी कहते हैं—

वेदविद्याव्रतस्नातान्, श्रोत्रियान् गृहमेधिनः ।
पूजयेद् हव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ।।[मनु० ४.३१]

अर्थात्—वेद के विद्वान् ज्ञानी और ब्रह्मचर्य-विधिपूर्वक स्नातक बनने वाले तथा वेदों का अध्ययन-अध्यापन करने वाले व्यक्तियों तथा ऐसे गृहस्थों को ही अतिथि यज्ञ में भोजन, अन्न, धन वस्त्र, दक्षिणा-दान आदि से सत्कृत करे। इसके विपरीत व्यक्तियों को सत्कार के अयोग्य माने। बोधायन गह्यसूत्र में कहा है—

"अथास्मा अतिथिर्भवति गुरोस्समानवृत्तिः, वैखानसो वा, गृहस्थः, वानप्रस्थः, परिव्राजकः, गतश्रीः, स्नातकः, राजा वा धर्मयुक्तः ।" [२.९.१७]

अर्थात्—'गृहस्थ के लिए निम्न व्यक्ति अतिथि होते हैं— गुरु और गुरुसदृश व्यक्ति, ऋषि-मुनि गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, जिसका सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया हो, स्नातक, धार्मिक राजा। इनका अतिथि के रूप में सत्कार करना चाहिये।'

महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में सद्गुणी विद्वान् को ही अतिथि माना है। वे लिखते हैं—

"जो धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, पक्षपातरहित, शान्त, सर्वहितकारक विद्वानों की अन्नादि से सेवा, उनसे प्रश्नोत्तर, आदि करके विद्या प्राप्त होना, 'अतिथियज्ञ' कहाता है।" [सं०वि०गृ० प्र०]

जो मनुष्य पूर्ण विद्वान् परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छल-कपट-रहित और नित्य भ्रमण करके विद्या का प्रचार और अविद्या की निवृत्ति सदा करते रहते हैं, उनको 'अतिथि' कहते हैं।" [ऋ०भा०भू०पञ्च]

सत्कार के अयोग्य व्यक्ति–

ऊपर उद्धृत श्लोक में महर्षि मनु ने कहा है कि श्लोक में वर्णित गुणों से विपरीत व्यक्तियों को अतिथि सत्कार में त्याज्य मानें। अन्य स्थलों पर उन्होंने विपरीत गुणों वाले व्यक्तियों का स्पष्टीकरण किया है और कहा है कि इन्हें अतिथिसत्कार के अवसर पर तो क्या, कदापि सत्कृत (= आवभगत) न करे। वे कहते हैं–

पाखण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।। [मनु० ४.३०]

अर्थात्–'पाखण्डी, शास्त्र-विरुद्ध आचरण करने वाले = दुर्गुणी, दुर्व्यसनी दुष्टाचरण वाले व्यक्ति; वैडाल वृत्तिक = छली-कपटी, दम्भी, लोभी, आडम्बरी, कुसंगी व्यक्ति; धूर्त, हैतुक = बकवादी अथवा कुतर्की; बकवृत्तिक[४५१] = मिथ्याचारी, ईर्ष्यालु, स्वार्थी, हठी, दिखावा करने वाला, दोहरे चरित्रवाला; ऐसे व्यक्तियों को वाणीमात्र से भी सत्कृत न करे। अर्थात् इनकी उपेक्षा कर दे।'

इन्हें अतिथि न माने–निम्न प्रकार के व्यक्तियों को अतिथि के रूप में न माने अपितु सुहृद् = मित्रभाव से इनका सत्कार करे–

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं सांगतिकं तथा।
उपस्थितं गृहे विद्यात् भार्या यत्राग्नयोऽपि वा।। [मनु० ३.१०३]

अर्थात्–'अपने ही गांव के निवासी, मित्र, जो पत्नी अथवा

---

४५१. विडाल तथा बक वृत्ति वाले लोगों के लक्षण मनु० ४.१९५, १९६ श्लोकों में दिये गये हैं। उनका भाव यहां गृहीत है।

पाकाग्नि सहित आया हो, ऐसे व्यक्ति को अतिथि न माने अपितु मित्रवत् व्यवहार करे।'

अतिथियज्ञ की विधि–

१. ऊपरवर्णित गुण-कर्म-स्वभाव वाले अतिथि के पधारने पर उसका 'नमस्ते' शब्द से अभिवादन करें। अधिक पूज्य के चरणस्पर्श कर प्रणाम करें। वाणी से स्वागत करें।
२. पुनः आसन, पाद्य = पैर-हाथ धोने के लिए, अर्घ्य = मुख धोने के लिए और आचमनीय = पीने के लिए जल दें।
३. आसन ग्रहण करने पर कुशल-क्षेम पूछें।
४. खान-पान आदि पदार्थों से सेवा-सुश्रूषा करें।
५. रात्रि को आश्रय चाहने वाले को आश्रय दें।
६. विद्वानों से सत्य उपदेश, उत्तम आचरण, ज्ञान-विज्ञान आदि की शिक्षा लें।
७. जाते समय दान के पात्र व्यक्ति को यथाशक्ति अन्न, वस्त्र, दक्षिणा-दान आदि देकर विदा करें।
८. ब्रह्मचारी आदि भिक्षार्थी को भिक्षा दें।
९. घर में ठहरे अतिथि को बलिवैश्वदेव यज्ञ के उपरान्त पहले भोजन आदि से सत्कृत करें तत्पश्चात् स्वयं भोजन करें। "**अतिथिं हि पूर्वमाशयन्ति**" [का०सं० १२] ।
१०. रात्रि के समय आये व्यक्ति को विशेष रूप से आश्रय दें। उसे असत्कृत न रहने दें।

अतिथियज्ञ का विधान–

अतिथि की सेवा-सुश्रूषा करना, उसे आश्रय देना कितना अनिवार्य एवं पुण्यदायक माना गया है, इसका संकेत इसी बात से मिलता है कि 'अतिथि-सेवा' को एक महायज्ञ के स्थान पर रखा गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है–

अतिथिदेवो भव [१.११२] –'अतिथि को देव मानो।'

अथर्ववेद ९.६ और १५.१०.१४ में अतिथि यज्ञ की महिमा का विस्तार से वर्णन किया गया है। स्मृति आदि ग्रन्थों में भी इसका विशेष

विधान तथा महिमा का गान है। महर्षि मनु कहते हैं—

सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्।। [मनु० ३.९९]

अर्थात्—'घर में उपस्थित अतिथि का विधिपूर्वक सत्कार करके उसे यथाशक्ति आसन, जल एवं भोजन प्रदान करे।' क्योंकि—

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सुनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन।। [मनु० ३.१०१]

अर्थात्—'अतिथियों के लिए बैठने के लिए आसन, स्थान, जल, सत्कारयुक्त मीठी वाणी, इन वस्तुओं की श्रेष्ठ लोगों के घर में कभी भी कमी नहीं होती अर्थात् श्रेष्ठ लोग इनके द्वारा तो अवश्य ही सत्कार करते हैं।

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
नास्य कश्चिद् वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः।।[मनु० ४.२९]

अर्थात—'किसी के घर में आया हुआ कोई अतिथि आसन, भोजन, शय्या, जल, मूल-फल आदि से यथाशक्ति सत्कार किये बिना नहीं रहना चाहिये अर्थात् यथाशक्ति सत्कार अवश्य करना चाहिये।'

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत्।। [मनु० ३.१०५]

अर्थात्—'गृहस्थ को चाहिये कि कोई भी अतिथि चाहे वह समय पर आये अथवा असमय पर, और विशेषतः सूर्यास्त के बाद आये अतिथि को वापस न लौटाये तथा वे बिना भोजन किये न रहें।"

न वै स्वयं तदश्नीयात्, अतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं चातिथि पूजनम्।। [मनु० ३.१०६]

अर्थात्—'जो पदार्थ स्वयं खाये, अतिथि को वह अवश्य खिलाये। अतिथि को दिये बिना स्वयं वह पदार्थ न खाये। अतिथि का सत्कार करना सौभाग्य, यश, दीर्घायु, सुख को देने अर्थात् बढ़ाने वाला होता है।'

इति अतिथि-यज्ञ विधिः

प्रार्थनाएं एवं भजन

वैदिक राष्ट्रिय प्रार्थना

सब मनुष्यों को प्रतिदिन सायं प्रातः सन्ध्योपासन-अग्निहोत्र करने के पश्चात् प्रत्येक राष्ट्रिय पर्व पर, विशेष अवसर पर तथा, जिस भी राष्ट्र का वह नागरिक है, उसकी सर्वांगीण सुखसमृद्धि की कामना के लिये विश्वपति परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये। '**राष्ट्रिय-प्रार्थना**' का वैदिक मन्त्र यह है–

ओम् आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्युः शूरऽ इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽ ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।।
[यजु० २२।२२]

ब्रह्मन् स्वराष्ट्र में हों, द्विज ब्रह्म तेजधारी।
क्षत्रिय महारथी हों, अरिदल विनाशकारी।।

होवें दुधारु गौएँ, पशु अश्व आशुवाही।
आधार राष्ट्र की हों, नारी सुभग सदा ही।।

बलवान् सभ्य योद्धा यजमानपुत्र होवें।
इच्छानुसार वर्षें, पर्जन्य ताप धोवें।।

फल-फूल से लदी हों, औषध अमोघ सारी।
हो योग-क्षेमकारी, स्वाधीनता हमारी।।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।

सबका भला करो भगवान,
सब पर दया करो भगवान् ।
सब पर कृपा करो भगवान् ।
सबका सब विधि हो कल्याण।।

सुखी बसे संसार सब, दुखिया रहे न कोय।
यह अभिलाषा हम सब की, भगवन! पूरी होय।।

विद्या बुद्धि तेज बल सब के भीतर होय।
दूध पूत धन धान्य से, वंचित रहे न कोय।।

आपकी भक्ति प्रेम से, मन होवे भरपूर।
राग-द्वेष से चित्त मेरा, कोसों भागे दूर।।

मिले भरोसा नाम को, हमें सदा जगदीश।
आशा तेरे नाम की, बनी रहे मम ईश।।

हमें बचाओ पाप से, करके दया दयाल।
अपना भक्त बनाय कर, सब को करो निहाल।।

दिल में दया उदारता मन में प्रेम अपार।
धैर्य हृदय में वीरता, सब को दो करतार।।

हाथ जोड़ विनती करूं, सुनिये कृपानिधान।
साधु-संग सुख दीजिये, दया नम्रता दान।।

यज्ञ महिमा (१)

होता है सारे विश्व का, कल्याण यज्ञ से।
जल्दी प्रसन्न होते हैं, भगवान् यज्ञ से।।
ऋषियों ने ऊंचा माना, है स्थान यज्ञ का।
करते हैं दुनियां वाले सब, सम्मान यज्ञ का।।
दर्जा है तीन लोक में, महान् यज्ञ का।
भगवान् का है यज्ञ और भगवान् यज्ञ का।।
जाता है देव लोग में इन्सान यज्ञ से।। होता है···
सबको प्रसाद यज्ञ का पहुँचाते हैं अग्नि देव।
बदले में अनेक, दे जाते हैं अग्नि देव।
बादल बना के भूमि पर, बरसाते हैं अग्नि देव।
पैदा अनाज करते हैं—भगवान् यज्ञ से।
होता है सार्थक वेद का विज्ञान यज्ञ से।। होता है···
शक्ति और तेज यश भरा, इस यज्ञ नाम में।
साक्षी यही है विश्व के हर नेक काम में।।

पूजा है इसको श्रीकृष्ण, भगवान् राम ने।
होता है कन्या दान भी, इसी के सामने।
मिलता है राज्य, कीर्ति, सन्तान यज्ञ से।। होता है···
सुख शान्ति दायक मानते हैं, दयानन्द इसे।
वशिष्ठ, विश्वामित्र और नारद मुनि इसे।।
इसका पुजारी कोई भी पराजित नहीं होता।
भय यज्ञ-कर्त्ता को कभी किञ्चित् नहीं होता।
होती हैं सारी मुश्किलें आसान यज्ञ से।। होता है···
चाहे अमीर है कोई, चाहे गरीब है।
जो नित्य यज्ञ करता है वह खुश-नसीब है।
हम सब में रहे सर्वदा यज्ञीय भावना।
हम सबकी सच्चे दिल से है, यह श्रेष्ठ कामना।
होती है पूर्ण कामना महान् यज्ञ से।। होता है···

यज्ञ-प्रार्थना

यज्ञरूप प्रभो हमारे भाव उज्ज्वल कीजिये ।
छोड़ देवें छल कपट को मानसिक बल दीजिये।।१।।

वेद की बोलें ऋचाएं सत्य को धारण करें ।
हर्ष में हों मग्न सारे शोक-सागर को तरें।।२।।

अश्वमेधादिक रचायें यज्ञ पर-उपकार को ।
धर्ममर्यादा चलाकर लाभ दें संसार को।।३।।

नित्य श्रद्धा-भक्ति से यज्ञादि हम करते रहें ।
रोग-पीड़ित विश्व के संताप सब हरते रहें।।४।।

भावना मिट जाय मन से पाप अत्याचार की ।
कामनायें पूर्ण होवें यज्ञ से नर–नार की।।५।।

लाभकारी हो हवन हर जीवधारी के लिये ।
वायु जल सर्वत्र हों शुभ गन्ध को धारण किये।।६।।

स्वार्थभाव मिटे हमारा प्रेम-पथ विस्तार हो ।
'इदन्न मम' का सार्थक प्रत्येक में व्यवहार हो।।७।।

हाथ जोड़ झुकाये मस्तक वन्दना हम कर रहे ।
नाथ करुणारूप! करुणा आपकी सब पर रहे।।८।।

यज्ञ की महिमा

(२)

यज्ञ जीवन का हमारे श्रेष्ठ सुन्दर कर्म है ।
यज्ञ का करना कराना आर्यों का धर्म है।।

यज्ञ से दिशि हो सुगन्धित, शान्त हो वातावरण ।
यज्ञ से सद्ज्ञान हो, हो यज्ञ से शुद्धाचरण।।

यज्ञ से हो स्वस्थ काया, व्याधियां सब नष्ट हों ।
यज्ञ से सुख सम्पदा हो, दूर सारे कष्ट हों।।

यज्ञ से दुष्काल मिटते, यज्ञ से जल-वृष्टि हो ।
यज्ञ से धन-धान्य हों, बहुभाँति सुखमय सृष्टि हो।।

यज्ञ है प्रिय मोक्षदाता, यज्ञ शक्ति अनूप है ।
यज्ञमय यह विश्व है, विश्वेश यज्ञस्वरूप है।।

यज्ञमय अखिलेश! ऐसी आप अनुकम्पा करें ।
यज्ञ के प्रति सब ज़नों में अमित श्रद्धा को भरें।।

पुण्य यज्ञ प्रकाश से सब पाप ताप तिमिर हरें ।
यज्ञ नौका से अगम संसार-सागर को तरें।।

ईश-स्तोत्र

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय ।
नमोऽद्वैत तत्त्वाय मुक्तिप्रदाय नमोब्रह्मणे व्यापिनेशाश्वताय।।

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम् ।
त्वमेकं जगत्कर्तृपातृप्रहर्तृ त्वमेकं परंनिश्चलं निर्विकल्पम्।।

भयानां भयं भीषणं भीषणं गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैः पदानां नियन्तृत्वमेकं परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम्।।

वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो, वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः ।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्बोधिपोतं शरण्यं व्रजामः।।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्चसखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं ममदेवदेव।।

संगठन-सूक्त

ओं संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इलस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर।।१।।

हे प्रभो! तुम शक्तिशाली हो बनाते सृष्टि को।
वेद सब गाते तुम्हें कीजिये धन वृष्टि को।।

ओं संगच्छध्वं सं वदध्वं संवो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते।।२।।

प्रेम से मिलकर चलो, बोलो सभी ज्ञानी बनो।
पूर्वजों की भाँति तुम कर्त्तव्य के मानी बनो।।

ओं समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।३।।

हों विचार समान सब के चित्त मन सब एक हों ।
ज्ञान देता हूँ बराबर भोग्य पा सब नेक हों।।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।४।।

हों सभी के दिल तथा संकल्प अविरोधी सदा ।
मन भरें हों प्रेम से, जिससे बढ़े सुख-सम्पदा।।

संगठन सूक्त ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त (ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १९१) है। सभी साप्ताहिक सत्संगों, सभाओं तथा समिति-सम्मेलनों में इस सूक्त का पाठ करना चाहिये। इस सूक्त में प्रत्येक मानव को संगठित होकर रहने का आदेश किया है।

अमृतत्व प्राप्ति की प्रार्थना

ओं असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय।।

हों असत् से दूर भगवन्, सत्य का वरदान दो ।
दूरकर द्रुततिमिर भगवन् शुभ्र ज्योतिविहान दो।।
मृत्यु बन्धन को हटा, अमरत्व हे भगवान् दो ।
प्रकृतिपाशों से छुड़ा आनन्द मधु का पान दो।।

बल प्राप्त करने की प्रार्थना

ओं तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।।
ओं वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।।
ओं बलमसि बलं मयि धेहि।।
ओम् ओजोऽस्योजो मयि धेहि।।
ओं मन्युरसि मन्युं मयि धेहि।।
ओं सहोऽसि सहो मयि धेहि।।

हे तेजवन्त भगवन्! मुझ में तेज भर दो।
ब्रह्माण्डवीर्य! मुझको भी वीर्यवान् कर दो।
बलवीर्य के विधायक! मुझको बली बनाओ।
हे ओज के अधीश्वर! निज ओज से सजाओ।
पुरुषत्व रोष पावन सहने की शक्ति दे दो।
अपने सभी गुणों से परिपूर्ण नाथ कर दो।

भजन (१)

हे दयामय हम सबों को शुद्धताई दीजिये।
दूर करके हर बुराई को भलाई दीजिये।।टेक।।

कीजिये ऐसा अनुग्रह हम पै हे परमात्मा ।
हों सभासद् इस सभा के सब के सब धर्मात्मा।।१।।

हो उजाला सब के मन में ज्ञान के प्रकाश से ।
और अंधेरा दूर सारा हो अविद्या-नाश से।।२।।

खोटे कर्मों से बचें और तेरे गुण गावें सभी ।
छूट जावें दुःख सारे सुख सदा पावें सभी।।३।।

सारी विद्याओं को सीखें ज्ञान से भरपूर हों ।
शुभ कर्म में होवें तत्पर दुष्ट गुण सब दूर हों।।४।।

यज्ञों से होने सुगन्धित अपना पावन देव! देश।
वायु जल सुखदायी होवें जायें मिट सारे क्लेश।।५।।

वेद के प्रचार में होवें सभी पुरुषार्थी ।
हो परस्पर सबमें प्रीति और बनें परमार्थी।।६।।

लोभी कामी और क्रोधी कोई भी हम में न हो।
सर्व व्यसनों से बचें और छोड़ देवें मोह को।।७।।

अच्छी संगत में रहें और वेद मार्ग पर चलें।
तेरे ही होवें उपासक और कुकर्मों से बचें।।८।।

कीजिये हम सब का हृदय शुद्ध अपने ज्ञान से।
मान भक्तों में बढ़ाओ अपने भक्ति-दान से।।९।।

भजन (२)

तू है सच्चा पिता सारे संसार का, ओम् प्यारा।
तू ही तू ही है रक्षक हमारा।।
फूल तूने हैं सुन्दर बनाये, पृथ्वी आकाश सूरज सजाये,
अन्त पाया नहीं, तेरा पाया नहीं पारवारा,
तू ही तू ही है रक्षक हमारा।। तू है......
पक्षि-गण राग सुन्दर हैं गाते, जीव-जन्तु भी सिर हैं झुकाते,
उसको सुख ही मिला, तेरी राह पै चला जो भी प्यारा।
तू ही तू ही है रक्षक हमारा।। तू है......
पाप पाखण्ड हमसे छुड़ाओ, वेद मारग पै हमको चलाओ,
लगे भक्ति में मन, करे सन्ध्या हवन जगत् सारा,
तू ही तू ही है रक्षक हमारा।।तू है.....

भजन (३)

आज सब मिल गीत गाओ उस प्रभु के धन्यवाद।
जिसका यश नित गाते हैं गन्धर्व मुनिजन धन्यवाद।।१।।

मन्दिरों में कन्दरों में पर्वतों के श्रृंग पर।
देते हैं लगातार सौ सौ बार मुनिवर धन्यवाद।।२।।

करते हैं जंगल में मंगल पक्षिगण हर शाख पर।
पाते हैं आनन्द मिल गाते हैं स्वरभर धन्यवाद।।३।।

कूप में तालाब में सागर की गहरी धार में।
प्रेमरस में तृप्त हो करते हैं जलचर धन्यवाद।।४।।

शादियों में कीर्तनों में यज्ञ और उत्सव के आदि।
मीठे स्वर से चाहिये करे नारी नर सब धन्यवाद।।५।

गान कर 'अमीचन्द' भजनानन्द ईश्वर की स्तुति।
ध्यान धर सुनते हैं श्रोता कान धर-धर धन्यवाद।।६।।

भजन (४)

ओं है जीवन हमारा, ओं प्राणाधार है ।
ओं है कर्त्ता-विधाता, ओं पालनहार है।।१।।

ओं है दुःख का विनाशक, ओं सर्वानन्द है ।
ओं है बल तेजधारी, ओं करुणाकन्द है।।२।।

ओं सब का पूज्य है, हम ओं का पूजन करें ।
ओं ही के ध्यान से, हम शुद्ध अपना मन करें।।३।।

ओं के गुरुमन्त्र जपने से रहेगा शुद्ध मन ।
बुद्धि दिन प्रतिदिन बढ़ेगी, धर्म में होगी लगन।।४।।

ओं के जप से हमारा ज्ञान बढ़ता जायेगा ।
अन्त में यह ओं हमको मुक्ति तक पहुंचायेगा।।५।।

भजन (५)

पितु मात सहायक स्वामी सखा, तुम ही एक नाथ हमारे हो।
जिनके कछु और आधार नहीं, तिनके तुम ही रखवारे हो।।
सब भांति सदा सुखदायक हो, दुःख दुर्गुण नाशनहारे हो।
प्रतिपाल करो सिगरे जग को, अतिशय करुणा उर धारे हो।।
भूलिहैं हम ही तुम को तुम तो, हमरी सुधि नाहि बिसारे हो।
उपकारन को कछु अन्त नहीं, छिन ही छिन जो विस्तारे हो।।
महाराज महा महिमा तुम्हरी, समझे बिरले बुधिवारे हो।
शुभ शान्ति-निकेतन प्रेमनिधे, मन-मन्दिर के उजियारे हो।।
यहि जीवन के तुम जीवन हो, इन प्राणन के तुम प्यारे हो।
तुम सों प्रभु पाय 'प्रताप' हरि, केहि के अब और सहारे हो।।

भजन (६)

शरण प्रभु की आओ रे, यही समय है प्यारे।
आओ प्रभु-गुण गाओ रे, यही समय है प्यारे।।१।।

उदय हुआ ओं नाम का भानु, आओ दर्शन पाओ रे।
अमृत झरना झरता है इससे, पीके अमर हो जाओ रे।।२।।

छल कपट और झूठ को त्यागो, सत्य में चित्त लगाओ रे।
प्रभु की भक्ति बिना नहीं मुक्ति, दृढ़ विश्वास जमाओ रे।।३।।

कर लो नाम प्रभु का सुमिरन, अन्त को न पछताओ रे।
छोटे-बड़े सब मिल कर खुशी से, गुण ईश्वर के गाओ रे।।४।।

भजन (७)

अजब हैरान हूँ भगवन् ! तुम्हें क्योंकर रिझाउँ मैं ।
कोई वस्तु नहीं ऐसी, जिसे सेवा में लाऊँ मैं।।अजब०।।

करें किस तौर आवाहन कि तुम मौजूद हो हर जाँ ।
निरादर है बुलाने को अगर घण्टा बजाऊँ मैं।।अजब०।।

तुम्हीं हो मूर्ति में भी, तुम्हीं व्यापक हो फूलों में ।
भला भगवान् पर भगवान् को, क्योंकर चढ़ाऊँ मैं।।अजब०।।

लगाना भोग कुछ तुमको, यह अपमान करना है ।
खिलाता है जो सब जग को, उसे क्योंकर खिलाऊँ मैं।।अजब०।।

तुम्हारी ज्योति से रोशन हैं सूरज चांद और तारे ।
महा अन्धेर है कैसे, तुम्हें दीप्रक दिखाऊँ मैं।।अजब०।।

भुजायें हैं न गर्दन है, न सीना है न पेशानी।
तुम हो निर्लेप नारायण! कहाँ चन्दन लगाऊँ मैं।।अजब०।।

भजन (८)

अब सौंप दिया इस जीवन का, सब भार तुम्हारे हाथों में।
है जीत तुम्हारे हाथों में, और हार तुम्हारे हाथों में।।

मेरा निश्चय है एक यही, इक बार तुम्हें पा जाऊँ मैं ।
अर्पण कर दूँ जगती भर का, सब प्यार तुम्हारे हाथों में।।

या तो मैं जग से दूर रहूं, और जग में रहूं तो ऐसे रहूं ।
इस पार तुम्हारे हाथों में, उस पार तुम्हारे हाथों में।।

यदि मानुष ही का जन्म मिले, तव चरणों का ही पुजारी रहूं।
मेरे पूजन की इक इक रग का, हो तार तुम्हारे हाथों में।।

जब जब संसार का बन्दी बन, दरबार तेरे में आऊँ मैं ।
तब तब हो पापों का निर्णय, सरकार तुम्हारे हाथों में।।

मुझ में तुझ में है भेद यही, मैं नर हूं तू नारायण है।
मैं हूं संसार के हाथों में, संसार तुम्हारे हाथों में।।

भजन (९)

विधाता तू हमारा है, तू ही विज्ञान-दाता है ।
बिना तेरी दया कोई, नहीं आनन्द पाता है।।विधाता०।।

तितिक्षा की कसौटी पर, जिसे तू जांच लेता है ।
उसी विद्याधिकारी को, अविद्या से छुड़ाता है।।विधाता०।।

सताता जो न औरों को, न धोखा आप खाता है ।
वही सद् भक्त है तेरा, सदाचारी कहाता है।।विधाता०।।

सदा जो न्याय का प्यारी प्रजा को दान देता है ।
महाराजा उसी को तू, बड़ा राजा बनाता है।।विधाता०।।

तजे जो धर्म को धारा, कुकर्मों की बहाता है ।
न ऐसे नीच पापी को, कभी ऊंचा चढ़ाता है।।विधाता०।।

स्वयंभू शंकरानन्दी, तुझे जो जान लेता है ।
वही कैवल्य-सत्ता की, महत्ता में समाता है।।विधाता०।।

भजन (१०)

प्रणाम ईश तुझ को, तेरी यह महिमा सारी ।
हर जीव में विराजे, ज्योति प्रभु तुम्हारी।।१।।

सूरज ये चांद तारे, चमकें तेरे सहारे ।
सब काम को सवारे, उन पै कृपा तुम्हारी।।२।।

योगी ऋषि मुनि जन, फल फूल वन के खाकर ।
तेरी ही धुन लगावें, उन पै कृपा तुम्हारी।।३।।

मन्दिर ये मस्जिदें और, गिरजे वा गुरुद्वारे ।
तेरे नाम के नजारे, सब तू ही तू पुकारे।।४।।

प्रभु तेरा नाम लेकर, कर बांध विनति करते ।
भक्ति का दान दीजै, उस के हैं हम भिखारी।।५।।

भजन (११)

है जिसने सारे विश्व को धारण किया हुआ ।
वह है हर इक वस्तु के अन्दर रमा हुआ।।

मिलता नहीं है इसलिए अज्ञानियों को वह ।
अज्ञान का है बुद्धि पै परदा पड़ा हुआ।।

दुनियाँ के दुःख रूप समुद्र से वह पार ।
जगदीश से है प्रेम अति जिसका लगा हुआ।।

सच्ची खुशी से रहते हैं वह जन सदा अलग ।
मन जिनका विषय-भोग में होवे फँसा हुआ।

मन तो मलींन वैसा ही पूरण रहा तेरा ।
गंगा में रोज जाके नहाया तो क्या हुआ।।

खोते हैं खेल-कूद में जो उमर रायगाँ।
अफसोस उनकी बुद्धि को न जाने क्या हुआ।

अज्ञानियों से रहता है 'केवल' दूर दूर।
खुल जावें ज्ञान-चक्षु तो वह है मिला हुआ।।

भजन (१२)

ओ३म् अनेक बार बोल, प्रेम के प्रयोगी।।टेक।।
है यही अनादि नाद, निर्विकल्प निर्विवाद,
भूलते न पूज्यपाद, वीतराग योगी।।ओ३म्०।।

वेद को प्रमाण मान, अर्थयोजना बखान,
गा रहे गुणी सुजान, साधु स्वर्ग भोगी।।ओ३म्०।।

ध्यान में धरें विरक्त, भाव से भजें सुभक्त,
त्यागते अघी अशक्त, पोच पाप रोगी।।ओ३म्०।।

शंकरादि नित्य नाम, जो जपे विसार काम,
तो बने विवेक धाम, मुक्ति क्यों न होगी।। ओ३म्० ।।

भजन (१३)

जय जय पिता परम आनन्ददाता,
जगदादि कारण मुक्ति प्रदाता।। जय०......

अनन्त और अनादि विशेषण हैं तेरे,
सृष्टि का स्रष्टा तू धर्त्ता संहर्त्ता।। जय०......

सूक्षम से सूक्षम तू है स्थूल इतना,
कि जिसमें यह ब्रह्माण्ड सारा समाता।। जय०......

मैं लालित व पालित हूं पितृस्नेह का,
यह प्राकृत सम्बन्ध है तुझ से त्राता।। जय०......

करो शुद्ध निर्मल मेरे आत्मा को,
करूं मैं विनय नित्य सायं व प्रातः।। जय०......

मिटाओ मेरे भय आवागमन के,
फिरूं न जनम पाता और बिलबिलाता।। जय०......

बिना तेरे है कौन दीनन का बन्धु,
कि जिसको मैं अपनी अवस्था सुनाता।। जय०......

''अमी'' रस पिलाओ कृपा करके मुझको,
रहूं सर्वदा तेरी कीर्त्ति को गाता।। जय०......

भजन (१४)

मुझे धर्म वेद से हे पिता! सदा इस तरह का प्यार दे ।
कि न मोड़ूं मुंह कभी उससे मैं, चाहे सर भी कोई उतार दे।।

वह कलेजा राम को, वह जिगर जो बुद्ध को दिया ।
वह फराख दिल दयानन्द का, घड़ी भर मुझे भी उधार दे।।

न हो दुश्मनों से मुझे गिला, करूं मैं बदी की जगह भला ।
मेरे लब से निकले सदा दुआ, कोई जाहे कष्ट हजार दे।।

नहीं मुझको ख्वाहिशे मरतबा, न है मालो जर की हवस मुझे ।
मेरी उम्र खिदमते खल्क में, मेरे हे पिता! तू गुजार दे।।

मुझे प्राणीमात्र के वासते, करो खोज़े दिल वो अता पिता ।
जलूँ उनके गम में मैं इस तरह, कि न खाक तक भी गुवार दे।।

मेरी ऐसी जिन्दगी हो बसर, कि हू सुरख़रू तेरे सामने ।
ना कहीं मुझे मेरा आत्मा ही, यह शर्म लैलो नहार दे।।

न किसी का मरतबा देखकर, जले दिल में नारे-हसद कभी ।
जहां पर रहूं, रहूं मस्त मैं, मुझे ऐसा सब्रो करार दे।।

लगे ज़ख्म दिल में अगर किसी के, तो मेरे दिल में तड़प उठे ।
मुझे ऐसा दे दिले दर्द रस, मुझे ऐसा सीना फिगार दे।।
है 'प्रेम' की यही कामना, वही एक उसकी है आरज़ू ।
कि चन्द रोजा हयात को, तेरी याद में ही गुजार दे।।

भजन (१५)

आनन्द रूप भगवन्! किस भांति तुमको पाऊँ,
तेरे समीप स्वामिन्! मैं किस तरह से आऊँ?
सुख मूल मुक्ति-रूपम्, मंगल कुशल स्वरूपम्,
घड़ियाल शंख को क्या, सम्मुख तेरे बजाऊँ? आनन्द…
अनुपम परम छबीले, बिन रंग रस रसीले,
कण्टक सखा है फुलवा, क्या सिर तेरे चढ़ाऊँ? आनन्द…
श्री लक्ष्मी है तेरी, निशि-दिन चरण की चेरी,
तांबे का एक पैसा, क्या नाथ पर चढ़ाऊँ? आनन्द…
गंगा है तेरी दासी, सेवक है इन्द्र तेरा,
तेरे शरीर पर क्या दो चुल्लू जल चढ़ाऊँ? आनन्द…
छोटे-से दास तेरे रवि-चन्द्र हैं उपस्थित,
करते हैं नित उजाला, घृत-दीप क्या जलाऊँ? आनन्द…
कोटानुकोटि भूमि, जिस पर असंख्य प्राणी,
जगदीश अपना नम्बर, मैं कौन-सा गिनाऊँ? आनन्द…
विनती 'किशोर' की है निशि-दिन यही दयामय!
हृदय में लौ हो तेरी, आंखों में मैं समाऊँ? आनन्द…

भजन (१६)

हे दयामय आपका, हमको सदा आधार हो।
आपके भक्तों से ही, भरपूर यह परिवार हो।।
छोड़ देवें काम को और क्रोध को मद-मोह को।
शुद्ध और निर्मल हमारा सर्वदा आचार हो।।
प्रेम से मिल-जुल के सारे गीत गावें आपके।
दिल में बहता आपका ही प्रेम पारावार हो।।
जय पिता जय-जय पिता, हम जय तुम्हारी गा रहे।
रात-दिन घर में हमारे आपकी जयकार हो।।

पास अपने हो न धन तो उसकी कुछ चिन्ता नहीं।
आपकी भक्ति से ही धनवान् यह परिवार हो।।
धन-धान्य घर में है सभी कुछ आपही का है दिया।
जिसके लिये प्रभु आपका धन्यवाद बारम्बार हो।।

भजन (१७)

हे प्रेममय प्रभो! तुम्हीं सबके आधार हो।
तुमको परम पिता प्रणाम बार-बार हो।।
ऐसी कृपा करो कि हम सब धर्मवीर हों।
वैदिक पवित्र धर्म का जग में प्रचार हो।।
सन्देश देश-देश में वेदों का दें सुना।
सद्भाव और प्रेम का सबमें प्रचार हो।।
असहाय के सहाय हों, उपकार हम करें।
अभिमान से बचें, हृदय निर्भय उदार हो।।
फूले-फले संसार में यह रम्य वाटिका।
कर्त्तव्य का हमको सदा अपने विचार हो।।
स्वाधीनता के मन्त्र का जप हम सदा करें।
सेवा में मातृभूमि की तन-मन-निसार हो।।

भजन (१८)

ओ३म् है जीवन हमारा, ओ३म् प्राणाधार है।
ओ३म् है कर्त्ता विधाता, ओ३म् पालनहार है।।
ओ३म् है दुःख का विनाशक, ओ३म सर्वानन्द है।
ओ३म् है बल तेज धारी,. ओ३म् करुणाकन्द है।।
ओ३म् सबका पूज्य है, हम ओ३म् का पूजन करें।
ओ३म् ही के ध्यान से, हम शुद्ध अपना मन करें।।
ओ३म् के गुरुमन्त्र जपने से रहेगा शुद्ध मन।
वृद्धि नित-प्रतिदिन बढ़ेगी, धर्म में होगी लगन।।
ओ३म् के जप से हमारा ज्ञान बढ़ता जायेगा।
अन्त में प्रिय ओ३म् हमको मोक्ष-पद पहुँचायेगा।

भजन (१९)

सत्ता तुम्हारी भगवन् जग में समा रही है।
तेरी दया-सुगन्धि हर गुल से आ रही है। १।
रवि, चन्द्र और तारे, तूने बनाये सारे।
इन सब में ज्योति तेरी, इक जगमगा रही है। २।
विस्तृत वसुन्धरा पर सागर बहाये तूने।
तह जिनकी मोतियों से अब चमचमा रही है। ३।
दिन-रात, प्रातः—सन्ध्या-मध्याह्न भी बनाया।
हर ऋतु पलट-पलट कर करतब दिखा रही है। ४।
सुन्दर सुगन्धि वाले पुष्पों में रंग तेरा।
यह ध्यान फूल-पत्ती तेरा दिला रही है। ५।
हे ब्रह्म विश्व-कर्त्ता! वर्णन हो तेरा कैसे
जल थल में तेरी महिमा हे ईश! छा रही है। ६।

भजन (२०)

विश्वपति के ध्यान में, जिसने लगाई हो लगन,
क्यों न हो उसको शांति, क्यों न हो उसका मन मगन।
काम, क्रोध, लोभ, मोह, शत्रु हैं सब महा बली,
इनके हनन के वास्ते, जितना हो तुझसे कर यतन।
ऐसा बना स्वभाव को, चित्त की शान्ति से तू,
पैदा न हो ईर्ष्या की आग, दिल में करे कहीं जलन।
मित्रता सबसे मन में रख, त्याग दे वैर भाव को
छोड़ दे टेढ़ी चाल को, ठीक कर अपना तू चलन।
उससे अधिक न है कोई, जिसने रचा है यह जगत्,
उसका ही रख तू आसरा, उसकी ही तू पकड़ शरण।
छोड़ के राग-द्वेष को, मन में तू उसका ध्यान कर,
तुझ पै दयाल होवेंगे, निश्चय है यह परमात्मन्।
जैसा किसी का हो अमल, वैसा ही पाता है वह फल,
दुष्टों को कष्ट मिलता है, श्रेष्ठों का होता दुःख हरण।
आप दया स्वरूप है, आप ही का है आसरा,
कृपा की दृष्टि कीजिये, मुझ पै हो जब समय कठिन।
मन में मेरे हो चांदना, मोक्ष का रास्ता मिले,
मार के मन जो 'केवला', इन्द्रियों का करे दमन।

भजन (२१)

हुआ ध्यान में ईश्वर के जो मगन, उसे कोई क्लेश लगा न रहा।
जब ज्ञान की गंगा में नहाया, तो मन में मैल जरा न रहा।।
परमात्मा को जब आत्मा में, लिया देख ज्ञान की आंखों से।
प्रकाश हुआ मन में उसके, कोई उससे भेद छिपा न रहा।।
पुरुषार्थ ही इस दुनियां में, सब कामना पूरी करता है।
मन चाहा फल उसने पाया, जो आलसी बन के पड़ा न रहा।।
दुःखदायी हैं सब शत्रु हैं, ये विषय हैं जितने दुनियां के।
वही पार हुआ भवसागर से, जो जाल में इनके फंसा न रहा।।
यहां वेद विरुद्ध जब मत फैले, प्रकृति की पूजा जारी हुई।
जब वेद की विद्या लुप्त हुई, फिर ज्ञान का पांव जमा न रहा।
यहां बड़े-बड़े महाराज हुए, बलवान् हुए विद्वान् हुए।
पर मौत के पंजे से 'केवल' कोई रचना में आके बचा न रहा।।

भजन (२२)

जिस नर में आत्म-शक्ति है, वह शीश झुकाना क्या जाने?
जिस दिल में ईश्वर भक्ति है, वह पाप कमाना क्या जाने?

मां-बाप की सेवा करते हैं, उनके दुःखों को हरते हैं।
वह मथुरा, काशी, हरिद्वार, वृन्दावन जाना क्या जाने?

दो काल करें संध्या व हवन, नित सत्संग में जो जाते हैं।
भगवान् का है विश्वास जिन्हें, दुःख में घबराना क्या जाने?

जो खेला है तलवारों से, और अग्नि के अंगारों से।
रण भूमि में जा करके पीछे, वह कदम उठाना क्या जानें?

हो कर्मवीर और धर्मवीर, वेदों के पढ़ने वाला हो।
वह निर्बल-दुखिया बच्चों पर, तलवार चलाना क्या जाने?

मन मन्दिर में भगवान् बसा, जो उसकी पूजा करता है।
मन्दिर के देवता पर जाकर, वह फूल चढ़ाना क्या जाने?

जिसका अच्छा आचार नहीं और धर्म से जिसको प्यार नहीं।
जिसका सच्चा व्यवहार नहीं, 'नन्दलाल' का गाना क्या जाने?

वैदिक आरती

ओ३म् जय जगदीश पिता, प्रभु जय जगदीश पिता।
विश्व विरंच विधाता, जगत्राता सविता।। ओ३म् ...
अनन्त अनादि अजन्मा, अविचल अविनाशी।
सत्य सनातन स्वामी, शंकर सुख राशी।। ओ३म् ...
सेवक जन सुखदायक, जन नायक तुम हो।
शुभ सुख शान्ति सुमंगल, वर दायक तुम हो।। ओ३म् ...
मैं सेवक शरणागत, तुम मेरे स्वामी।
हृदय पटल में प्रगटो, प्रभु मेरे अन्तर्यामी।। ओ३म् ...
काम, क्रोध, मद, मोह, कपट, छल व्यापे नहीं मन में।
लगन लगे मम मन की, गुण तेरे वर्णन की।। ओ३म् ...
नित्य निरञ्जन निशिदिन तेरो ही जाप करें।
तव प्रताप से स्वामी, तीनों ही ताप हरें।। ओ३म् ...
पतित उद्धारण तारण, शरणागत तेरी।
भूले न भटके भ्रम में, निर्मल मति मेरी।। ओ३म् ...
शुद्ध बुद्धि से मन में, तेरो ही वर्णन करें।
सब विधि छल-बल तज के तेरी शरण पड़ें।। ओ३म् ...

आरती

ओम् जय जगदीश हरे, स्वामी जय जगदीश हरे।
भक्त जनों के संकट क्षण में दूर करे।। ओम्०......।। १ ।।

जो ध्यावे फल पावे दुःख विनशे मन का।
सुख सम्पत्ति घर आवे कष्ट मिटे तनका। ओम्०......।। २ ।।

मात पिता तुम मेरे, शरण गहूं किसकी?
तुम बिन और न दूजा, आस करूं जिसकी। ओम्०......।। ३ ।।

तुम पूरण परमात्मा, तुम अन्तर्यामी।
पारब्रह्म परमेश्वर, तुम सबके स्वामी। ओम्०......।। ४ ।।

तुम करुणा के सागर, तुम पालेनकर्त्ता।
मैं सेवक तुम स्वामी, कृपा करो भर्त्ता। ओम्०......।। ५ ।।

तुम हो एक अगोचर, सबके प्राणपति।
किस विधि मिलूं दयामय, तुमको दो कुमति। ओम्०......।। ६ ।

दीनबन्धु दुःखहर्ता, तुम रक्षक मेरे।
करुणा-हस्त बढ़ाओ, द्वार पड़ा तेरे। ओम्०......।। ७ ।।

विषय विकार मिटाओ पाप हरो देवा।
श्रद्धा भक्ति बढ़ाओ, सन्तन की सेवा।।
ओम् जय जगदीश हरे.........।। ८।।

भजन

आर्यसमाज है यह आर्यसमाज है ।
देश को जगाने वाला आर्यसमाज है:
आर्यसमाज है यह आर्यसमाज है।।
देश धर्म-जाति की बचाई जिसकी लाज है।। आर्यसमाज है...

जाति पर विधर्मियों के नित्य हमले हो रहे थे,
नींद में बेहोश पड़े जाति वाले सो रहे थे।
सोई हुई जाति को जगाया किसने आज है।। आर्यसमाज है...

आर्यसमाज ने लगाई ज्योति वेद की,
बन्द हुई बाइबिल कुरान और पुरान भी।
दूर किये सारे बुरे रस्म रिवाज है।। आर्यसमाज है...

इसी ने सुनाया देश-प्रेम का जोशीला राग,
लेके अँगड़ाई सारे देश-प्रेमी पड़े जाग।
भागे हैं विदेशी सारे देश में स्वराज है।। आर्यसमाज है...

इसी ने भगाया भ्रम भूत छूआछूत का।
इसी ने मिटाया झूठ ढोंग जातपाँत का।
जन्म का महत्त्व मिटा, कर्म सरताज है।। आर्यसमाज है...

जग को जगाने वाला

जग को जागने वाला आर्यसमाज है।
जग की पुकार है यह युग की आवाज़ है।।

ईश की उपासना का रास्ता दिखा दिया,
जड़ की आराधना के पाप से बचा लिया,
ढोंग-ढांग जिसके भय से डोल रहा आज है। आर्यसमाज है...

ठाकुरों की ठोकरों ने कर दिया बेहाल था,

दम्भियों का फैला हुआ ओर-छोर जाल था,
जिसने दीन देश-जाति की बचाई लाज है। आर्यसमाज है···

नारियां भी वेद का हैं गान आज कर रहीं हैं,
रुढ़ियों—कुरीतियों हैं अपने आप मर रहीं,
वेद के प्रकाश का जो कर रहा सुकाज है। आर्यसमाज है···

कौन है जो आर्यों की भावना जगा गया,
कौन मौत से हमें जो जूझना सिखा गया,
श्रद्धानन्द, लेखराम गुरदत्त हंसराज है। आर्यसमाज है···

देश हित में वार दी अनेक ही जवानियां,
रक्त से लिखी हैं इसने देश की कहानियां,
लाजपत लुटा के आज पा लिया स्वराज है। आर्यसमाज है···

कौन भोगवाद से जो विश्व को बचाएगा,
पाप-पुण्य क्या है कौन आज यह सुझाएगा,
मानवीय रोग का तो एक ही इलाज है। आर्यसमाज है···

ध्वज-गीत

जयति ओ३म्-ध्वज व्योम विहारी,
विश्व-प्रेम प्रतिमा अति प्यारी।।

सत्य सुधा बरसाने वाला, स्नेह-लता सरसाने वाला ।
साम्य-सुमन विकसाने वाला, विश्व विमोहक भव भय हारी।।

इसके नीचे बढ़े अभय मन, सत्पथ पर सब धर्मधुरी जन ।
वैदिक रवि का हो शुभ उदयन, आलोकित होवें दिशि सारी।।

इससे सारे क्लेश शमन हों, दुर्मति दावन द्वेष दमन हों ।
अति उज्ज्वल अति पावन मन हों, प्रेम तरंग बहे सुखकारी।।

इसी ध्वजा के नीचे आकर, ऊँच-नीच का भेद भुलाकर ।
मिलें विश्वमुद-मंगल गाकर, पन्थाई पाखण्ड बिसारी।।

इसी ध्वजा को लेकर कर में, भर दें वेद-ज्ञान घर-घर में ।
सुभग शान्ति फैले जग भर में, मिटे अविद्या की अँधियारी।।

विश्व-प्रेम का पाठ पढ़ावें, सत्य अहिंसा को अपनावें ।
जग में जीवन-ज्योति जगावें, त्यागपूर्ण हो वृत्ति हमारी।।

आर्य जाति का सुयश अक्षय हो, आर्य-ध्वजा की अविचल जय हो ।
आर्य जनों का ध्रुव निश्चय हो, आर्य बनावें वसुधा सारी।।
जयति ओ३म्-ध्वज व्योम विहारी,
विश्व-प्रेम प्रतिमा अति प्यारी।।

ओ३म् ध्वजा लहराओ

ओ३म् ध्वजा लहराओ वीरो बढ़े चलो
सोया देश जगाओ वीरो बढ़े चलो
बिगड़ी दशा बनाओ वीरो बढ़ चलो
ओ३म् ध्वजा लहराओ.........
परम पिता का आश्रय लेकर, दयानन्द-सा हृदय लेकर,
वैदिक नाद बजाओ, वीरो बढ़े चलो।
ओ३म् ध्वजा लहराओ.........
जर्मन पर और अमरीका पर, योरुप पर और अफ्रीका पर
फिर से धाक जमाओ, वीरो बढ़ चलो।
ओ३म् ध्वजा लहराओ वीरो.........
लाल किले की चोटी पर भी, राष्ट्रपति की कोठी पर भी
ओ३म् ध्वजा लहराओ, वीरो बढ़ चलो।
ओ३म् ध्वजा लहराओ वीरो.........
सदाचार का दौर चले फिर, नैतिकता, चहुं ओर फले फिर
सबको श्रेष्ठ बनाओ, वीरो बढ़े चलो।
ओ३म् ध्वजा लहराओ वीरो.........
रहे न कोई भ्रष्टाचारी, न कोई मन्त्री, नहीं अधिकारी
ऋषियों का युग लाओ, वीरो बढ़ चलो।
ओ३म् ध्वजा लहराओ वीरो.........
राम-राज्य फिर से लाना है, प्रेम तराना फिर गाना है।
सबको गले लगाओ, वीरो बढ़ चलो।
ओ३म् ध्वजा लहराओ वीरो.........

शान्ति-पाठ

प्रत्येक यज्ञ, संस्कार वा सभा-समारोहों के अनन्तर कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना करते हुए उसके रचे ब्रह्माण्ड के विविध दैवी-शक्ति सम्पन्न पदार्थों से शान्ति की कामना करनी चाहिये। शान्ति-पाठ का मन्त्र इस प्रकार है—

ओं द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्ति— रोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ।१८।

[यजुः अ० ३६।२४]

इस मन्त्र का अर्थ इस पुस्तक के पृ० १५० पर देखें।

यज्ञान्त में उद्घोष

जो बोले सो अभय	—वैदिक धर्म की जय
ब्रह्मर्षि विरजानन्द की	—जय
महर्षि दयानन्द की	—जय
मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र की	—जय
योगिराज श्री कृष्ण की	—जय
भारत माता की	—जय
गोमाता की	—जय
आर्य समाज	—अमर रहे
वेद की ज्योति	—जलती रहे
ओ३म् का झंडा	—ऊँचा रहे
वैदिक ध्वनि	—ओ३म्

आर्यसमाज के नियम

१– सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२– ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३– वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४– सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५– सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६– संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७– सब से प्रीति-पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८– अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९– प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०– सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व-हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

शीघ्र प्रकाश्य बृहद् ग्रन्थ के सहयोग हेतु

आभार-प्रदर्शन

मेरी शीघ्र प्रकाश्य बृहत् पुस्तक **'वैदिक नित्यकर्म एवं पञ्चमहायज्ञ-विधि मीमांसा'**, जिसमें कि पञ्चमहायज्ञों की विधियों की पर्याप्त शास्त्रीय प्रमाणों एवं ऊहापोह सहित विस्तृत विवेचना की गयी है तथा यज्ञों सम्बन्धी सभी शंकाओं का सरल-सुबोध शैली में समाधान प्रस्तुत किया गया है, उसके प्रकाशन के लिए निम्नलिखित महानुभावों ने पवित्र दान एवं आशीर्वाद प्रदान किया है–

१.	पूज्य स्वामी सर्वानन्द जी महाराज, दयानन्दमठ दीनानगर (पंजाब)	५०००-००
२.	पूज्य स्वामी सत्यपति जी महाराज, योगाश्रम आर्यवन विकास रोजड़ (गुजरात)	५०००-००
३.	चौ० सूरतसिंह जी आर्य, बहादुरगढ़	१५०००-००
४.	प्रधान श्री हरवंशलाल जी आर्य जालन्धर	११००१-००
५.	प्रधान इन्द्रनारायण जी आर्य (हाथी दांत वाले) ग्रीन पार्क दिल्ली	५१००-००
६.	प्रधान श्याम सुन्दर जी आर्य, कमला नगर, दिल्ली	५०००-००
७.	श्री राजतिलक जी आर्य, जनकपुरी, दिल्ली	५००१-००
८.	श्री कनक भाई जी, रव भाई जी, छग्गन भाई जी गांव अमृतफार्म, भुज (कच्छ, गुजरात)	५००१-००
९.	अरुण जी आर्य, जुनेजा म० नं० आई-१४६, कीर्ति नगर, दिल्ली	५१०१-००
१०.	पं० प्रेमनाथ जी आर्य, आर्य समाज शालीमार बाग, दिल्ली	५००१-००

इनके अतिरिक्त इन महानुभावों ने मेरे जीवन में सदैव सहयोग किया है तथा उक्त पुस्तक के प्रकाशनार्थ भी सभी प्रकार का हार्दिक सहयोग देने का आश्वासन दिया है–

११. महाशय बलवन्त सिंह जी आर्य, मकड़ौली कलां (रोहतक)
१२. प्रधान दयाकिशन जी आर्य, कापड़ो (हिसार)
१३. श्री जगदीश जी सरपंच, अलीपुर, नारनौल, महेन्द्रगढ़

१४. श्री धर्मपाल जी आर्य, मन्त्री आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, ४५५ खारी बावली, दिल्ली-६
१५. श्री तपेन्द्रकुमार जी, आई. ए. एस., जिलाधीश (कलेक्टर) नागौर (राज.)
१६. श्री विजयभूषण जी आर्य, राजा पार्क शकूरबस्ती, दिल्ली
१७. श्री अनिल जी आर्य, अध्यक्ष केन्द्रीय आर्य युवक परिषद, दिल्ली
१८. डॉ. चन्द्रशेखर जी शास्त्री, पहाड़गंज, दिल्ली

इन सभी सहयोगी महानुभावों तथा अन्य जिन महानुभावों ने अध्ययन काल में मुझे सहयोग दिया है उन सबका चित्र सहित जीवन परिचय उक्त पुस्तक में प्रकाशित किया जायेगा। शेष दानियों की सूची भी इसमें प्रकाशित की जायेगी। सभी दानी एवं सहयोगी महानुभावों का मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी वे मेरा उत्साह बढ़ाते रहेंगे और आर्य साहित्य प्रचार-प्रसार के इस यज्ञ में अपनी आहुति अर्पित करते रहेंगे।

आप सब के सहयोग का पहला फल यह **'वैदिक नित्यकर्म एवं पञ्चमहायज्ञ विधि'** नामक पुस्तक के रूप में फलित हुआ। इसके उपरान्त बृहत् ग्रन्थ ''**वैदिक नित्यकर्म एवं पञ्चमहायज्ञ विधि–मीमांसा**'' प्रकाशित हो रहा है। मैं विश्वास के साथ यह कह सकता हूं कि इन्हें पढ़कर आपको संतुष्टि मिलेगी। आपको अनुभव होगा कि इनमें शोधात्मक पद्धति से परिश्रम किया गया है। इसमें आपको यज्ञों सम्बन्धी सभी आवश्यक जानकारी उपलब्ध होगी।

इसके पश्चात् भी आर्यसमाज के प्रचार-प्रसारार्थ अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना है, जो आपके सहयोग एवं आशीर्वाद से ही सम्पन्न हो सकती है।

मेरा अन्य सभी दानी महानुभावों से भी अनुरोध है कि वे भी इस प्रकाशन-यज्ञ में पवित्र दान-आहुति प्रदान कर पुण्य के भागी बनें। आप निम्न पते पर ड्राफ्ट/चैक/मनीआर्डर द्वारा सहयोग-राशि भेजने का कष्ट करें–

आचार्य सत्यानन्द ''नैष्ठिक''
गुरुकुल कंवरपुरा
डाक० – गोरधनपुरा
तह० – कोटपुतली
जिला – जयपुर (राज०)